

[illegible]

RNI No. DELHIN/2017/74713/19-02-18

-प्रोफेसर सत्यकेतु सांकृत, 'प्रॉक्टर', अंबेडकर विश्वविद्यालय

“सैनिक परिवारों के दर्द को ना सिर्फ वन्दना यादव ने जीया है, बल्कि सहा और समझा भी है। यही कारण है कि वन्दना जी ने सरहद पर तैनात सैनिकों के परिवारों के संघर्ष, दर्द और पीड़ा पर 'कितने मोर्च' उपन्यास लिखा।”

—विवेक मिश्र , वरिष्ठ साहित्यकार, स्क्रिप्टराइटर

औरतें भावनाओं का दूसरा नाम हैं और पुरुष दुनियादारी का इसीलिए वे एक-दूसरे के पूरक हैं। —वन्दना यादव, कितने मोर्चे

अतिथि संपादक :
डॉ. रेनू यादव





साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित 'साहित्यायन' में वन्दना यादव के यात्रा वृत्तांत और मोटीवेशनल पुस्तक का लोकार्पण करते हुए बाएं से प्रकाशक अशोक गुप्ता, लेखक वन्दना यादव, प्रोफेसर अनिल रॉय, अम्बरीन जैदी, कार्यक्रम के अध्यक्ष आचार्य लोकेश मुनी जी, जनरल (रिटायर) रामेश्वर रॉय, प्रेम जनमेजय और अंजू शर्मा।



‘कितने मोर्चे’ उपन्यास का लोकार्पण



इन्द्रप्रस्थ अध्ययन केन्द्र में एक सत्र की अध्यक्षता के समय



भोपाल के आजाद भवन में वन्दना यादव को 'कितने मोर्चे' उपन्यास हेतु वरिष्ठ साहित्यकार मैत्रेयी पुष्पा, अट्टहास पत्रिका के संपादक-साहित्यकार अनूप श्रीवास्तव एवं अन्य 'प्रोफेसर श्यामलाल स्मृति सम्मान' से सम्मानित करते हुए

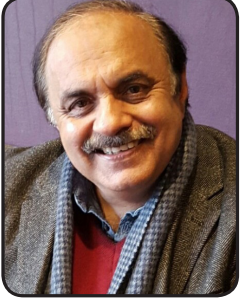


'मानसी बुक क्लब' द्वारा आयोजित 'शुद्धि' उपन्यास पर "पुस्तक चर्चा" में लेखक क्लब की सदस्यों के साथ

संपर्क :

संपादक : देवेन्द्र कुमार बहल, बी-3/3223, वसंतकुंज, नई दिल्ली 110070
मो. 9910497972 / 8527697972, ई-मेल : abhinavimroz@gmail.com

वन्दना यादव साहित्य की हषिकेश मुखर्जी...



तेजेन्द्र शर्मा

हिन्दी सिनेमा में एक तरफ़ मनमोहन देसाई, प्रकाश मेहरा और सुभाष घई जैसे फ़िल्मकार थे जो कि पूरी तरह से घोर कमर्शियल फ़िल्में बनाते थे। दूसरी तरफ़ मणि कौल और मृणाल सेन जैसे निर्देशक थे जो ऐसी फ़िल्में बनाते थे जिन्हें सिनेमाघर का मुंह देखना नसीब नहीं होता था। ठीक वैसे ही साहित्य में

भी कुछ महिला लेखक नारी विमर्श के नाम पर बेडरूम को उधेड़ कर बोल्ट लेखिका के रूप में कुख्यात हो चुकी हैं तो वहीं कुछ पूरी तरह से पारंपरिक लेखन में विश्वास करती हैं। इन सबसे अलग एक नाम वन्दना यादव का भी है जो हषिकेश मुखर्जी की फ़िल्मों की तरह ऐसा लेखन करती हैं जिसे परिवार का हर सदस्य बिना किसी परेशानी के पढ़ सकता है।

हषिकेश मुखर्जी बिना किसी शोर-शराबे के अपनी फ़िल्म में वे सब कह जाते थे जो अन्य फ़िल्मकार या तो बहुत गूढ़ ढंग से कहते थे या फिर सतही ढंग से। अनाड़ी, अनुपमा, आनन्द, सत्यकाम, चुपके-चुपके, गोलमाल जैसी फ़िल्में उनकी सोच के स्पेक्ट्रम की ऊंचाई का सुबूत हैं। वे हर बात को नये ढंग से कहते थे।

वन्दना यादव अपने उपन्यासों में नये मुद्दे नई चुनौतियां लेकर सामने आती हैं। उनके उपन्यास 'कितने मोर्चे' और 'शुद्धि' इस बात का प्रमाण हैं कि अपने दोनों उपन्यासों में उन्होंने नई ज़मीन तोड़ी है। पहला उपन्यास सरहद पर तैनात फ़ौजियों के परिवार के संघर्ष की महागाथा है तो शुद्धि राजस्थान के समाज में मौजूद विसंगतियों का खूबसूरत लेखाजोखा है।

वन्दना यादव से मेरा परिचय एक लेखिका के तौर पर नहीं हुआ था। रशियन कल्चर सेंटर में एक हिन्दी का कार्यक्रम था जिसमें मेरा सम्मान होना था। वहां वन्दना एक मित्र के साथ पहुंची थीं। बस रस्मी सी बातचीत हुई और फ़ोन नंबरों का आदान-प्रदान हो गया। यह पहली मुलाकात मित्रता में भी तब्दील होती गई और मेरी पहचान साहित्यकार वन्दना से भी होने लगी।

वन्दना टिपिकल साहित्यकार कभी भी नहीं रही। उसके लिये घर की ज़िम्मेदारियां बहुत महत्वपूर्ण थीं। दो बेटियां और फ़ौजी पति उसे व्यस्त रखते थे। फिर भी अधिकांश लेखकों की तरह उनकी शुरूआत भी कविता के सृजन से ही हुई। मगर एक कवि के रूप में वन्दना यादव की उपस्थिति साहित्य जगत में महसूस नहीं की जा सकी।

वन्दना यादव के तीन कविता संग्रह 'ये इश्क़ है', 'तुम कुछ कह दो', 'कुछ कह देते' प्रकाशित हो चुके हैं। पहले दो कविता संग्रहों के शीर्षक इशारा करते हैं कि वे बहुत निजी किस्म की कविताएं होंगी। मगर तीसरे कविता संग्रह के बारे में साहित्यकार एवं समीक्षक रेणु यादव ने अपनी टिप्पणी में कहा है, "कवियित्री के कोमल मन से उपजी कविताएँ इश्क़ करना सिखाती हैं गाँव, घर, प्रकृति, बच्चे, प्रेमी तथा अपने अस्तित्व से इश्क़ की तलाश, इश्क़ का इंतज़ार, इश्क़ में होना और इश्क़ में निरंतर गुजरते जाना मनुष्य की प्रकृति का एक हिस्सा है। "सुनो / आज वक्रत को जाने दो / तुम ठहर जाओ" से लेकर "तुम वह हो सकती हो जो होना चाहती हो" तक का लम्बा सफ़र 'पर' से 'स्वयं' तथा 'स्वयं' से 'अपनी चेतना' तक पहुँचने का सफ़र है। कविताएँ अत्यंत सरल सहज एवं अभिधात्मक भाषा है, जो आसानी से ग्राह्य हो सकने में समर्थ हैं।"

एक मित्र के तौर पर वन्दना यादव पर आँख मूंद कर भरोसा किया जा सकता है। रिश्ते निभाने में वह अपना नुक़सान करने में भी पीछे नहीं हटतीं। उसका ध्येय केवल और केवल मित्रता को हर हालत में निभाना होता है। मुझे याद है कि एक ऐसा भी समय था जब मुझे भारत में कोई भी काम होता था, तो दिमाग़ में एक ही नाम उभरता था – वन्दना यादव। मैं उन्हें कुछ भी करने को कह सकता था और आराम की नींद सो सकता था कि वे उस काम को अंजाम देंगी। वन्दना ने मेरी तमाम पुस्तकें ख़रीद कर पढ़ी हैं। केवल पढ़ी ही नहीं उन पर लिखा भी है।

बहुत बार ऐसा होता है कि हम अपने मित्र को यह बताने में चूक जाते हैं कि हमारे लिये उसकी मित्रता कितनी महत्वपूर्ण है। इस लेख के ज़रिये मैं वन्दना यादव को बताना चाहूंगा कि उसकी मित्रता ने कभी मेरी ओर किसी भी अनुग्रह या पक्षपात की अपेक्षा से

नहीं देखा। वह एक पूरी तरह से समर्पित मित्र है जिसके साथ आप निजी, सामाजिक, साहित्यिक या इंटेलिक्चुअल स्तर की बातचीत कर सकते हैं।

हो सकता है कि वन्दना को यह बात पसन्द न आए कि मैं अपनी निजी बातें एक लेख में सार्वजनिक कर रहा हूँ। मगर एक समय ऐसा आता है कि मित्र को यह पता लगना चाहिये कि उसका अपने मित्रों के जीवन में क्या महत्व है।

एक बात और भी साझा करना चाहूंगा कि वन्दना ने कभी अपने मित्र मुझे से छिपाने का प्रयास नहीं किया। यदि मुझे किसी भी प्रकार की सहायता चाहिये हो, वन्दना मुझे बिना किसी झिझक के उस मित्र के पास ले गई जो मेरी सहायता कर सकता था। उसने कभी यह नहीं सोचा कि मैं कहीं अलग से उसके मित्र से दोस्ती बढ़ा कर उसका पता न काट दूँ।

शिखा और शिवानी उनकी दो बेटियाँ जो सच में उसकी दो आँखें हैं। वह उनके लिये जीती हैं साँस लेती हैं। वन्दना अपने किसी भी आयोजन को रद्द कर सकती है यदि उस आयोजन के लिये उसे अपनी बेटियों की अनदेखी करनी पड़ेगी। शिखा के कनाडा में बसने के बाद वन्दना पूरी तरह से शिखा के व्यक्तित्व के विकास पर ध्यान दे रही हैं।

वन्दना के लेखन में विविधता कमाल की है। यानी कि वह मोटिवेशनल स्पीकर भी बन सकती हैं; यात्रा वृत्तांत भी लिख सकती हैं; बाल साहित्य भी लिख सकती हैं; कहानी, कविता, उपन्यास पर भी क्लम चला सकती हैं। वे मंच संचालन भी बेहतरीन करती हैं। भाषा पर उनकी पकड़ है हालांकि कभी-कभी उनका हरियाणवी लहजे पर मैं मज़ाक करने से बाज़ नहीं आता। वन्दना बिना किसी आपत्ति के मेरे कटाक्ष को एक मित्र की सलाह मान के स्वीकार कर लेती हैं।

उनके पति कर्नल पुष्पेन्द्र यादव का जगह-जगह तबादला होता रहता था। इसलिये वन्दना के बहुत से शहरों का जीवन जानने और समझने का अवसर मिला। यह उनकी बातचीत और लेखन में महसूस भी किया जा सकता है। उनके उपन्यास पर दिल्ली विश्वविद्यालय से एम. फ़िल. भी की जा चुकी है। किसी भी लेखक के लिये यह खासी सम्मानजनक उपलब्धि मानी जा सकती है। क्योंकि दिल्ली विश्वविद्यालय इस मामले में बहुत कठोर नियमों का पालन करता है।

बहुत बार जब मैं लंदन से दिल्ली जाता हूँ तो वन्दना के घर में एक मंगल मिलन का कार्यक्रम अवश्य रखा जाता है जिसमें मित्रों को निमंत्रित करके गप-शप करने का मौक़ मिलता है। उस समय वन्दना

का उत्साह देखने लायक होता है। उसकी एक विचित्र सी आदत है कि वह हर मेहमान को कोई न कोई भेंट देना नहीं भूलतीं। रिश्तों के रख-रखाव का वह बहुत ख़याल रखती हैं।

मुझे अच्छी तरह याद है कि एक बार वह अपने जीवन के कुछ कठिन अनुभव मुझ संग साझा कर रही थीं, कि मेरे दिमाग में यह विचार कौंधा कि इन अनुभवों को क्रमबद्ध करके एक उपन्यास लिखा जा सकता है। हिन्दी साहित्य में सैनिकों और उनकी कुर्बानियों पर तो बहुत से गीत, कविताएं और कहानियाँ लिखी गई हैं। मगर पीछे छूटे उनके परिवार के संघर्षों को पूरी तरह से अनदेखा किया जाता रहा है। सैनिकों की पत्नियाँ लगभग 'सिंगल पेरेंट' की तरह अपने बच्चों को पालती हैं। बच्चे अपने स्कूलों में पलते तो ग़ैर-सैनिक बच्चों के साथ हैं मगर घर में पिता के आते ही एक सेना का अनुशासन लागू हो जाता है। बच्चों को अपने पिता किसी विलेन से कम नहीं दिखते।

पति की अनुपस्थिति में बच्चों की पढ़ाई-लिखाई, उनका इलाज, उनकी ज़रूरतें सभी पत्नी अकेले लड़ती है। कभी घर की मरम्मत तो कभी पड़ोसियों से परेशानी... सब का मुकाबला वह अकेली ही करती है। इन्हीं समस्याओं को लेकर वन्दना यादव के पहले उपन्यास 'कितने मोर्चे' की नींव पड़ी थी। वन्दना अपने चैप्टर लिखती रहती और मेरे साथ साझा करती रहती। फिर एक दिन उसका उपन्यास पूरा हो गया। उसने चैन की साँस ली होगी।

मुझे अचानक बचपन में देखे मदारी का खेल याद आ गया। मदारी का जमूरा खेल दिखाता और मदारी से पूछता - "कैसी रही?" मदार जवाब देता, "कसर रही!"

कुछ ऐसा ही वन्दना यादव के साथ भी हुआ। उसने उपन्यास पूरा करके मुझसे पूछा, "तेजेन्द्र जी, कैसी रही?" मेरा जवाब सुन कर वह लगभग बेहोश तो हो गई होगी।

मैंने जवाब दिया, "वन्दना आप यदि अपने उपन्यास को पूरी तरह से ऑब्जेक्टिव हो कर पढ़ें तो आप पाएंगी कि उपन्यास लिखते-लिखते आपका लेखन अधिक परिपक्व हो गया है। अब उपन्यास में एक झोल आ जाएगा। शुरुआती लेखन कच्चा लगेगा और बाद का लेखन पुरखा।"

वन्दना ने उपन्यास को फिर से पढ़ा और मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही जब उसने कहा कि तेजेन्द्र जी आपकी बात सही है। उन्होंने पूरा उपन्यास दोबारा लिखा। जहां-जहां उन्हें कच्चापन महसूस हुआ

उन्होंने उसे बदला और लगभग दो महीने उपन्यास को दोबारा ठीक करने में लगा दिये। जब तक मैंने सहमति नहीं दे दी, उपन्यास प्रकाशित करने को नहीं दिया।

मैं अपेक्षा कर रहा था कि वन्दना मुझे प्रकाशक ढूँढ़ कर उपन्यास प्रकाशित करवाने के लिये अवश्य कहेंगी। मगर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। वन्दना ने स्वयं अपने लिये प्रकाशक ढूँढ़ा और उपन्यास बिना किसी प्रकार का पैसा दिये प्रकाशित भी करवा लिया।

वन्दना जैसी मित्र मिलना अच्छी किस्मत का प्रमाण है। वन्दना आज जिस गति से लेखन कर रही है, उसे एक ही सलाह दूंगा कि अपनी शक्ति अब केवल एक ही विधा को समर्पित कर दे। यदि दस विधाओं में उसकी एक-एक पुस्तक प्रकाशित होगी तो हर विधा में पहली पुस्तक होगी... जब उसके दस उपन्यास प्रकाशित हो चुके होंगे, वह भारत की अग्रणी उपन्यासकार बन चुकी होगी।

मैं ऐसे बहुत से युवा लेखकों से परिचित हूँ जिन्होंने अपने शुरूआती जीवन में मुझ से लेखन को लेकर बहुत कुछ पूछा और माना। मगर वक्त के साथ-साथ वे मुझे से बहुत आगे बढ़ गये और मैं पीछे से उन्हें निहारता हूँ और संतुष्ट महसूस करता हूँ कि मैंने अपनी युवा पीढ़ी को कुछ ठीक ही बताया होगा जो मुझ से इतनी आगे बढ़ गई है। पूरी उम्मीद है कि वन्दना यादव का वो समय भी आया ही चाहता है।

— एमबीई, वरिष्ठ साहित्यकार, लंदन, Email : tejinders@live.com

समीक्षा

कितने मोर्चे : जीवन-त्वरा को सहेजती संगिनी-गाथा



कल्पना मनोरमा

वन्दना यादव का उपन्यास 'कितने मोर्चे' पढ़ने से पहले मैंने भारतीय सेना से संबंधित साहित्य में स्वदेश दीपक का 'कोर्ट मार्शल' नाटक पढ़ा और देखा था। इस नाटक में लेखक ने जातिवाद और सामंतवाद, किस तरह सेना में अपनी पहुँच बनाते हैं, को केंद्र में रखते हुए लिखा है। उसके बाद प्रो. अल्पना मिश्र की कहानी 'छावनी में बेघर' पढ़ी। उस कहानी में भी सेना में कार्यरत सैनिक (पति) अपना परिवार छोड़कर जब किसी अन्य ऐसे स्थान पर ट्रांसफर होकर चला जाता है, जहाँ वह अपने परिवार को साथ रखने में अक्षम होता है, तो चाहे अधिकारी रैंक का सैनिक हो या सामान्य सुरक्षाबल, उसके जाने के बाद उस सैनिक-परिवार के साथ यूनिट की हताश व उदास कार्य गुजारियों की दारुण तस्वीर सामने आती है। उसमें लेखिका ने दिखाया है कि एक सैनिक का परिवार उसके ट्रांसफर जाने के बाद सेना के केंद्र से खिसक कर किस तरह से कोने में पहुँच जाता है कि सैनिक की पत्नी सोचकर भी नहीं सोच पाती है कि वह छावनी में रहते हुए बेघर जैसी फीलिंग से क्यों भर गयी है?

कमोबेश 'कितने मोर्चे' उपन्यास भी छावनी में बेघर वाले मुद्दे को उठाता है लेकिन विस्तार से। और उपन्यास की एक खासियत ये भी है कि इसमें 'कुसुम' नामक किरदार किसी भी परिस्थितियों में अपना मन छोटा बनाकर बेचारगी को प्रकट नहीं करता है बल्कि एस. एफ. क्वार्टर में रहने वाली सैनिकों की संगिनियों और उनके बच्चों की मदद के लिए भी तत्पर रहता है। कुसुम के माध्यम से वन्दना यादव ने इसे सबलता से लिखा है। वे उन परिवारों की आंतरिक दशा-दिशा के बारे में विस्तार से लिखती हैं, जिनके सुरक्षित और खुशहाल रहने से सीमाओं की सुरक्षा में डटे उनके सैनिक पतियों की कामनाएँ, जिज्ञासाएँ, समर्पणों और चाहनाओं के साथ विपरीत परिस्थितियों में भी वे पूरी सहूलियत मससूस करते हुए देश-हित में लगे रह सकें, जांबाज सैनिकों के उन्मुक्त क्रियान्वयन अपने शिखर तक पहुँचें। वे दिन-रात प्रार्थनाओं में लीन रहने वालियों (सैनिक-पत्नियों) के दैनिक-संघर्षों की बात करती हैं।

लेखक ने 'कितने मोर्चे' उपन्यास में उन सैनिक-संगिनियों की बात की है, जो अपने पति के परिवार, बच्चे और अन्य मसलों को भी सुलझाते हुए उनके जीवन में त्वरा भरने की धुन में लगी रहती हैं।

भले अभी तक देश की सीमाओं, सेनाओं-सैनिकों और बार्डर-सुरक्षा के विभिन्न मोर्चों पर बात की गयी हो लेकिन मेरी जानकारी में सैनिकों की रीढ़ की हड्डी साबित होती उनकी संगिनियों पर लिखा

ये पहला उपन्यास है। जिसका पूरा श्रेय वन्दना यादव को जाता है। चूँकि लेखिका स्वयं सेना से संबंध रखती हैं इसलिए कृति में किसी भी तरह के तथ्यों और जानकारीयों में मिलावट या कमतरी का कोई सवाल नहीं उठता है।

सैनिकों के परिवारों का एस.एफ. (सेपरेट फैमली एक्मोडेशन) में रहने का फैसला आमतौर पर सैनिक (पति) के गैर-पारिवारिक स्टेशन पर पोस्टिंग जाने और बच्चों की शिक्षा में कोई व्यवधान न आने के कारण लिया जाता है। इस तरह की मुश्किलों का सामना सैनिकों के परिवार नौकरी के दौरान अक्सर करते हैं।

‘कितने मोर्चे’ कृति के केंद्र में एक कर्नल परिवार है। जिसमें कर्नल संदीप हैं, पत्नी कुसुम, बेटा कबीर और बेटी सिया है। बच्चे दोनों स्कूल जाने वाले होते हैं, जो जल्दी ही कॉलेज भी जाएंगे लेकिन सेना को इस सबसे कोई लेना-देना नहीं है। सेना को तो सिर्फ और सिर्फ अपने सैनिक से मतलब होता है, उसके परिवार के कोमल-कठोर क्षणों या सुख-दुःख-दर्द से कोई मतलब नहीं होता है।

सेना में जिसका ट्रांसफर आ गया, उसे हर हाल में चिह्नित स्थान पर जाना ही पड़ता है। ‘कितने मोर्चे’ की कथा नायिका कुसुम के जीवन में एस.एफ. क्वार्टर्स में रहने का अवसर कर्नल संदीप की पोस्टिंग हार्ड एरिया में आने के बाद आता है।

“मुझे लगता है कि सुख-दुख हालात से नहीं, सोच से बनते हैं....। एक जैसे हालात में रहने वाले लोगों का सुखी या दुखी होना उसकी सोच पर डिपेंड करता है।”

कुसुम के इन वाक्यों से आरंभ हुआ उपन्यास कहीं भी वैचारिक रूप से विपन्न नहीं होता है। कुसुम की कहानी यहीं से शुरू होती है। ‘कितने मोर्चे’ शीर्षक के अंतर्गत उपन्यास में चौबीस किस्से बुने गये हैं। जो कुसुम नामक तार में पिरोये गए मनके हैं। कुसुम पढ़ी-लिखी समझदार स्त्री है। वह समय, हालात और परिस्थितियों के अनुसार हल ढूँढना जानती है। कुसुम के हवाले से पाठक सैनिक परिवारों की उन सब बातों से परिचित होता चलता है, जो आम होकर भी खास होते हैं। कैसे एक सैनिक की पत्नी अकेले रहकर सीमा पर सैनिक (पति) को फोन के द्वारा हमेशा यह बताती रहती है कि तुम घर को जैसा छोड़ गये हो, वैसा ही है। चिंता मत करना, सब कुछ अच्छा है। तुम जो कर रहे हो, करते रहो, मैं अपने घर में कुछ भी बिगड़ने नहीं दूँगी।

ऐसे भरोसेमंद वाक्य कहने-सुनने में भले सहज लेंगे और भले स्त्री की जज्बेदारी भी प्रदर्शित हो लेकिन साहचर्य की खुशबू से महरूम संगिनियाँ (सैनिक-पत्नियाँ) अकेले माता-पिता की भूमिकाएँ

अदा करते-करते सेना के अंदरूनी स्वास्थ्य को बचाए रखने के लिए खुद को फना कर डालती हैं।

स्त्रियों के इस बलिदान पर सेना उन्हें कभी कोई तमगा भी नहीं देती।

इस तरह किसी भी प्रकार के तमगे की चाह किये बगैर सैनिक पति के पोस्टिंग चले जाने के बाद पहला साबिका कुसुम का पड़ता है— चौधरी विहार के एस.एफ. क्वार्टर्स में से अपने लिए एक क्वार्टर आवंटन करवाने का। जिसके लिए वह हर संभव प्रयास करते हुए अपने लिए एक क्वार्टर प्राप्त कर लेती है। जहाँ लिफ्ट है पर लिफ्ट मैन नहीं है, गैराज हैं पर नहीं पता किसने किसका गैराज हथियाया हुआ है, के बाद भी कुसुम अपने बेटा-बेटी के साथ सेटल हो जाती है।

इस कृति को जीवन की तरह से लिखा गया है। जैसे जीवन के सारे मसले अपनी मंजिल तक नहीं पहुँचते, उसी तरह कई किस्सों में तखलीफ़ रेखांकित करते हुए लिखा गया है। इसमें कुसुम की मदद करने की प्रवृत्ति को खूब दर्शाया गया है।

किस्सों में है — भारतीय थल सेना से सम्बन्धित भागती-दौड़ती स्त्रियाँ, समय से लड़ती-बचती स्त्रियाँ, बच्चों की परवरिश अकेले करती स्त्रियाँ, पति की बेवफ़ाई झेलती स्त्रियाँ, आरक्षण पाने की जद्दोजहद करती स्त्रियाँ, गैरेज और लिफ्ट मैन की व्यवस्था करती स्त्रियाँ, बच्चों का एडमिशन कॉलेज में करवाती स्त्रियाँ, दोस्त स्त्री के बेटा-बेटी के भविष्य की चिंता करती स्त्रियाँ, अपनी मित्र को अस्पताल लेजाकर इलाज करवाती स्त्रियाँ, पति को सरप्राइज देने जाती स्त्रियाँ, पति को रंगें हाथों पकड़ती स्त्रियाँ, चौधरी विहार की सड़कों पर अवैध खड़े वाहन की तहकीकात करती स्त्रियाँ, अपने बच्चों के मानसिक, शारीरिक, व्यवहारिक बदलावों से जूझती स्त्रियाँ, नवयुवक बेटा-बेटी के लव-शब पर विचार-विमर्श करती स्त्रियाँ, पति के पोस्टिंग जाने के बाद अपना अर्थ खोजती स्त्रियाँ, बच्चों के कॉलेज जाते हुए धक्के खाती स्त्रियाँ, परिचित यूनिट में बेपरिचित जीवन बिताने को मजबूर होती स्त्रियाँ, जीवन के खौलते झंझावातों के बीच भी अपने लिए क्वालिटी टाइम तलाशती स्त्रियाँ और बढ़ती उम्र में खुद को सजाती-सँवारती स्त्रियों की कहानियाँ हैं।

‘कितने मोर्चे’ उपन्यास में हर प्रकार का जीवन धड़कता है। यहाँ कामवालिओं के बच्चे हैं, उनके बेवड़े पति हैं, उनकी सहेलियाँ हैं और सैनिक परिवारों की मैम साहिबानों की दैनिकी है।

वैसे तो सेना में सैनिकों की पहली शर्त है आपस में एकजुटता बनाये रखना लेकिन सैनिक और अधिकारियों की पत्नियाँ भी इस रूल को मन से फ़ॉलो करती हैं, वे भी बिना पति के घर-गृहस्थी

सँवारती सैनिक संगिनियों की मदद के लिए किसी भी समय हाज़िर रहती हैं। और यही एकता का जज्बा ही उन्हें अपने अकेलेपन से बाहर खींच लाने का काम करता है।

‘कितने मोर्चे’ कृति उस तबके को केंद्र में लेकर बुनी गई है, जो ओहदेदार है, शिक्षित है। इसमें थ्रिल है, रोमांस है, रोमांच है, पति-पत्नी के सहचार्य की गुनगुनाहट है, अपने एकांत को अवसर में बदलने की बातें हैं। कुसुम जहाँ अपने लिए अपने वक्त को अपनी तरह से ढालती है, वहीं अन्य सैनिक परिवारों की स्त्रियों, जिन्हें कुसुम अपनी सहेलियाँ कहती है, को भी उन्नत जीवन का रास्ता चुनने के लिए अकेले समय को अवसर में बदलने का जज्बा सिखाती है।

“सेना एक नॉन प्रोडक्टिव यूनिट यानी एक गैरउत्पादक इकाई है। फौज किसी चीज को पैदा नहीं करती। यहाँ किसी तरह का वार्षिक टर्नओवर नहीं होता पर सरहदों की सुरक्षा जिस कीमत पर सैनिक करते हैं, उसके बल पर देश तरक्की करता है”

कुसुम का मन अगर कमजोर पड़ता है तो उसका पति संदीप उसे ऐसी बातें कहकर उसका हौसला बढ़ा देता है। कुसुम की मित्र स्त्रियाँ जागरूक हैं। वे अकेले रहना, बच्चों की परवरिश करने को बोझ नहीं समझती हैं। बल्कि पति से दूर रहकर अपने होने को एंजॉय करती हैं। और अकेले बच्चों के साथ रहना वे अपने लिए एक अवसर मानती हैं, अपनी प्रतिभा को निखारने का। पति के साथ मिसेज सो एंड सो न कहलाकर उन्हें अपने नाम की पुकार पर फक्र होता है। वे आपस में एक दूसरे को नाम से पुकारती हैं। और याद करती हैं कि अगर पति के साथ किसी यूनिट में रह रही होती तो उन्हें मिसेज सो एंड सो पुकारा जा रहा होता। कम से कम उस बात से उन्हें छुट्टी है।

बात यही समाप्त नहीं होती बल्कि अकेले जीवन के मुहाने पर खड़े होकर हर परिस्थितियों से निपटते, अपने निर्णय स्वयं लेते हुए इन स्त्रियों को ये भी लगने लगता है कि दो साल जब उनके अधिकारी पति हार्ड एरिया की पोस्टिंग काटकर लौट आयेंगे तब फिर से उन्हें पति के अंतर्गत अपने रूटीन बदलने पड़ेंगे। क्योंकि इन्हें अपना बॉस खुद बनकर जीने की आदत हो चुकी होती है इसलिए यह बात इन्हें खलती भी है।

उपन्यास के कुछ अंशों से इस बात को समझा जा सकता है।

“इस वक्त को अपने लिए वरदान समझ कर जियोगी तभी कुछ कर सकोगी। नहीं तो जीवन शिकायतों का पुलिंदा बनकर रह जाएगा।”

“आदतें अच्छी हों या बुरी, उम्र के साथ-साथ पकने लगती हैं। और कभी-कभी किसी एक व्यक्ति का कोई आदर्श उसके परिवार

में परंपरा बन जाती है, सुरक्षा के मुद्दे को लेकर वह हमेशा से सतर्क रही है, घर के सभी खिड़की दरवाजे अच्छी तरह बंद रखना उसकी आदत में शामिल है, ऐसे में हर आने वाले को दरवाजे के साथ लगी घंटी का बटन दबाना जरूरी हो जाता है”

“प्रत्येक भाषा और धर्म का साहित्य अपने युग में ही लेखनी के अंतिम पड़ाव पर पहुँचकर अंतिम अध्याय के बाद साहित्य को पुस्ताकार लेने का गौरव हासिल हुआ। मगर निंदा पुराण अपने शैशव काल से आज तक निरंतर लिखा जा रहा है। अध्याय समाप्त होते रहे मगर ग्रंथ का अंतिम अध्याय मानव सभ्यता के अंतिम क्षण तक लिखा जाता रहेगा।”

“भय की कोई निश्चित परिभाषा नहीं है। वह अनदेखा है और कल्पना से परे की चीज है उसके परिणाम भयंकर होने का अंदेशा है बस इसलिए वह डरावना है।”

“आखिर हम अंग्रेज थोड़े ही हैं, हम ठहरे खालिस हिंदुस्तानी। यूनिफॉर्म में सेल्यूट करने की विवशता हो सकती है पर बिना वर्दी तो हम भारतीय हैं। वे भूल जाते हैं कि अब ‘वर्दी’ अंग्रेजों का दिया हुआ वरदान नहीं रही। वे अपनी वर्दी में अपना शरीर, अपनी आत्मा लिए घूम रहे हैं। सब अपनी मर्जी का व्यवहार करने को स्वतंत्र हैं पर यह जो दास प्रथा खून में जम गई है, वह सब—कुछ करवा लेती है। नियम-कायदे जिन्हें अंग्रेज बनाकर चले गए थे, वे सामने आ खड़े हो जाते हैं... और सबसे बड़ी बात कि उन पर ‘जेंटलमैन’ होने का ठप्पा भी तो लगा है। बिना वर्दी तो अपने देश में सभी देसी अवतार हैं।”

“भारतीय लोग प्रत्येक संस्कृति को आत्मसात करने में माहिर हैं और अक्सर ऐसा करते समय भविष्य में एक बदलाव की क्या कीमत चुकानी होगी, इस बात का भी ध्यान नहीं रखते, हमने अपने सूर्योदय की संस्कृति को हाशिये पर रखकर सूर्यास्त का आनंद मनाना शुरू कर दिया।”

“ब्रिगेडियर.....हाँ, ब्रिगेडियरों के परिवार हैं यहाँ, बर्फीले पर्वतों में ग्लेशियर जितने। वे परिवार बहुत कम दिखाई देते हैं, सबसे मेल-जोल भी नहीं रखते, सुख-दुख में शामिल नहीं होते पर हाँ, वे यहाँ होते हैं। अब बचा कौन? लेफ्टिनेंट कर्नल और कर्नल! जिस तरह सेना में यही दोनों रैंक बहुतायत में हैं, वैसे ही यहाँ इन्हीं रैंक से जुड़े परिवार भी खूब पाए जाते हैं। जहाँ तक नजर जाती है, इन्हीं रैंकों से लदी तख्तियाँ दरवाज़ों के बाहर अटी पड़ी हैं।”

कुसुम को जहाँ सेना की अनुशासन प्रियता, समर्पण, भाईचारा, एक दूसरे के प्रति कुछ कर गुजरने का भाव प्रिय है, वहीं उसे सेना की कार्यशैली पितृसत्तात्मक भी लगती है।

कुसुम खुद निरंतर आगे बढ़कर लोगों की मदद करने में विश्वास रखती है। उसे लगता है कि फौज हो या सिविल सोसाइटी, स्त्रियों के दुख एक जैसे होते हैं। सेना अंग्रेजों द्वारा स्थापित इकाई है, यहाँ आज भी कुछ बातें ब्रिटिश आर्मी रूल्स के मुताबिक चलती हैं, जो कुसुम को अच्छी नहीं लगती हैं। वह बार-बार इस बात की भर्त्सना करती रहती है।

लेखिका ने कुसुम को 'सुपर वुमन' के चक्र में गूँथा है। कुसुम बात बिगड़ने पर घबराती नहीं है, उसके पास सवाल होते हैं, वह लगातार प्रश्न पूछती है और अपने मंतव्य तक पहुँच जाती है। कुसुम यह भी जानती है कि कौन से मूड में कौन सा पेय किसी मित्र को पसंद होगा। वह भारतीय व्यंजन बनाने में निपुण तो है ही साथ में इटालियन, मुगलई आदि भी बनाने में सिद्ध हस्त है। कुसुम लोगों से उसके मन की बात उगलवाने में भी निपुण है।

उपन्यास की भाषा रोचक है, जिससे पाठक को पठनीयता का रस मिलता है। लेखन शैली सहज, सरल और बोधगम्य है। अनावश्यक शिल्प के फेर में पड़कर वन्दना यादव ने उपन्यास को जटिल नहीं बनाया है। हाँ, यदि इसके बिखराव को थोड़ा समेट लिया जाए तो यह उपन्यास और भी रम्य बन जाएगा।

इस कृति को पढ़ते हुए महसूस हुआ कि सेना के कार्य, अनुशासन और राष्ट्रप्रेम पर गर्व होना लाजिम है किन्तु सेना यदि अकेले रह रहे सैनिकों के परिवारों का ध्यान उनके अनुसार रखने लगे तो सैनिकों के परिवारों का भी भावनात्मक संरक्षण बना रहेगा और सैनिक पूरे मन से सीमाओं पर डटे रहेंगे। हर सैनिक की स्त्री कुसुम जितनी जुझारू नहीं हो सकती, ऐसे में उसके भीतर की नरमाहट को बचाए रखने के लिए कुछ ठोस कदम जरूर उठने चाहिए।

—कवि-कथाकार, दिल्ली, Email : kalpanamanorama@gmail.com

समीक्षा

शुद्धि : मानव प्रवृत्तियों के यथार्थ की दुनिया



आशा पाण्डेय

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं: इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते हैं और अग्नि इसे जला नहीं सकती है। जल इसे गीला नहीं कर सकता है और वायु इसे सुखा नहीं सकती है।

इन तथ्यों को तो वन्दना यादव की कृति 'शुद्धि' अपने में समेटे हुए है ही साथ में लेखक का अपना एक मंतव्य भी समानांतर चलता रहता है। वे लिखती हैं कि, 'शुद्धि सिर्फ पूजा हवन करने से नहीं आती, अपने विचार भी शुद्ध करने पड़ते हैं, तब होती है शुद्धि!'

मानव की मूलभूत वृत्तियाँ शिक्षा, शालीनता, प्रेम और दिखावे के वशीभूत होकर भीतर दबी रहती हैं या सप्रयास दबाई जाती हैं

किंतु विपरीत परिस्थितियों में जब सहनशक्ति जवाब देने लगती है तब ये प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे सिर उठाने लगती हैं और अपने मूल रूप को उद्घाटित कर देती हैं।

वन्दना यादव का उपन्यास 'शुद्धि' इन्हीं मानव प्रवृत्तियों की पड़ताल करता है। उपन्यास परिवार के मुखिया शेर सिंह की मौत से शुरू होता है। हिंदू मान्यताओं के अनुसार तेरहवीं तक मृतक की आत्मा घर में ही बसी रहती है। इस मान्यता को स्वीकारते हुए लेखक ने शेर सिंह की आत्मा को घर में भ्रमण करते हुए और लोगों के व्यवहार को परखते हुए दिखाया है। दरअसल कहानी उसी मृतात्मा की ओर से शुरू होती है।

औपन्यासिक कथ्य, राजस्थान के एक सीमावर्ती गाँव 'उदयरामसर' को आधार बनाकर लिखा गया है। शेर सिंह जो परिवार के मुखिया हैं, की मृत्यु के बाद नाते-रिश्तेदार, घर-परिवार के लोग शोक मनाने के लिए इकट्ठे होते हैं। दो-चार दिन बीतता है कि शेर सिंह के छोटे भाई लाल सिंह की भी मृत्यु हो जाती है। अब

तेरहवीं का कार्यक्रम कुछ दिन आगे खिसक जाता है। शेर सिंह की तेरहवीं के लिए आए लोगों को मजबूरी में लाल सिंह की तेरहवीं तक रुकना पड़ता है लेकिन इसी बीच एक दर्दनाक हादसे में लाल सिंह के बेटे पुष्कर का भी देहांत हो जाता है। और इसी घर की एक सबसे बड़ी बेटी जो मायके में ही रह रही है, वह भी मरणासन्न अवस्था में बिस्तर पर पड़ी है। इस दुख की घड़ी में एकत्र नाते-रिश्तेदारों को इन कारणों की वजह से अधिक दिन रुकना पड़ता है तो वे चिंतित होते हैं और वहां से किसी तरह लौटने की जुगत भिड़ते हैं।

शुरूआत में जब सब आपस में मिलते हैं तो बहुत दिन बाद मिलने पर उत्पन्न हुआ अपनापन उत्साह, उल्लास तब समाप्त हो जाता है जब उन सबको अधिक दिन रुकना पड़ता है। और वे सब तनाव में रहने लगते हैं। वहाँ रहते हुए उनके आपसी संबंध, उन सबकी बात-चीत, एक दूसरे को नीचा दिखाने की कोशिश, माँ-बेटों के आपसी रिश्तों आदि का बड़ा सुंदर और सटीक वर्णन इस उपन्यास में हुआ है। वन्दना यादव ने वहाँ एकत्र हुए लोगों की मूल प्रवृत्तियों को बड़ी सावधानी से उधेड़ा है। ऊपरी प्रेम भीतर से कितना दिखावटी होता है यह इस उपन्यास को पढ़कर समझा जा सकता है। मृत्यु के अवसर पर भी अपनी धनाढ्यता को दिखाने का कोई अवसर लोग नहीं छोड़ते हैं। ईश्वर और पार्वती जैसे चरित्र, जो एक काम न करते हुए भी पूरी जिम्मेदारी को स्वयं ओढ़े हुए प्रदर्शित करते रहते हैं, हमें अपने आस-पास दिख जाते हैं। सुलोचना, पुष्कर, सुंदर, सूरज आदि का चरित्र भी यथानुकूल है। राम प्यारी इस उपन्यास की दमदार किरदार हैं।

वस्तुतः इंसान की जड़ें घर परिवार से जुड़ी रहती हैं। दूर रहते हुए नजदीक आने की इच्छा बलवती होती है, किंतु लंबे समय तक परिवार के हर सदस्य का एक साथ रहना द्वेष ईर्ष्या और तकरार को ही जन्म देता है। यही उपन्यास में हुआ है। यह कथा एक परिवार की न होकर पूरे भारतीय समाज की कथा है। ज़बरदस्ती के आडंबरों और रीतियों को ढोने की मजबूरी इंसान को चिड़चिड़ा बना देती है। आपसी तनातनी, संपत्ति की लालच, खर्च का हिसाब, रिश्ते का उथलापन सब इस उपन्यास में देखने को मिलता है। प्रेम, सहचर्य और वैवाहिक जीवन को भी इसमें परखा गया है। पुष्कर अपनी पत्नी का परित्याग कर दूसरी स्त्री के साथ रहने लगता है, उसकी मृत्यु के बाद वह दूसरी स्त्री भी पुष्कर के घर आती है। पहली पत्नी और उसका बेटा बगावत के सुर अख्तियार कर लेते हैं। हाँ, यह बात अलग है कि पुष्कर की पहली पत्नी सीमा भीतर ही भीतर बगावत कर रही है किंतु बेटा सूरज खुलकर बोल रहा है। वह मुंडन कराने और पिता को मुखाग्नि देने से भी मना कर देता है। परिवार के लंबे जुटान में मुखोटे को ओढ़े लोगों के असली रूप सामने खुलते हैं।

शुद्धि उपन्यास में जहाँ रिश्तों के सघन ताने-बाने आपसी प्रेम की महक के साथ बुने गए हैं, वहीं समयागत कड़वाहट भी उभरकर आई है। जो माँ-बेटे अपने रिश्तों में प्रगाढ़ स्नेह और एक दूसरे के शुभचिंतक माने जाते हैं, वही यहाँ पर कोर्ट-कचहरी में उलझ जाते हैं। जो माँ अपने बच्चों को प्राण तक देने के लिए तत्पर रहती है, वही बेटे के व्यवहार से आहत होकर उसके हक से बेदखल करने में भी संकोच नहीं करती है।

“थाने पहले से ही जानकारी तो है ही कि मैं भी थारे बराबरी की हिस्सेदार हूँ। ये घर, दो बाड़े, एक गाड़ी, दस राठी गाएँ और आठ खेत मेरे नाम पर छोड़कर गए हैं तुम्हारे पिता जी। शहर की दुकानें सबके हिस्से में बराबर आई हैं वो भी सबको पता है। तेरे लिए खेड़े (खेड़े) में घर बणवा दिया था। अब्बि से ही तू अपने जाणे कि तैयारी कर ले। तेरहवीं पर सबके साथ तू भी मेरे घर से चला जाणां ... आज बता दिया है दोबारा इस पर बहस नहीं होगी। अपनी तैयारी कर लेणा...आखिरी दिन रोवणा शुरू करो।” रामप्यारी निर्णय सुनाकर बरामदे में आ गई।

उक्त कथन में लेखक ने माँ कि लिजलिजी भावुकता की जगह सख्त मिज़ाज को दिखाकर स्त्री के मजबूत पक्ष को दर्शाया है।

किसी भी परिवार में ये सारे चरित्र कमोबेश मिल जाते हैं, इसलिए इसे पढ़ते हुए यह एहसास होता है कि कहानी हमारे बीच ही चल रही है। इस उपन्यास के बहाने वन्दना यादव ने उस परंपरा पर भी उंगली उठाई है, जिसमें महिलाओं को दोगुने दर्जे का समझते हुए शव-यात्रा में कुछ दूर तक ही जाने की अनुमति होती है, और वह भी बिना जूते चप्पल के जबकि पुरुष जूता चप्पल पहन सकते हैं। रेतीली गरम जमीन पर नंगे पांव चलना महिलाओं के लिए कष्टकारी होता है। वे इस विषय पर बात भी करती हैं। वस्तुतः लेखक उन्हीं महिलाओं के माध्यम से इस कुप्रथा पर प्रश्न खड़ा करती हैं।

इस उपन्यास की सबसे खास बात ये है कि विकास और बदलाव कि बातें पुरुष नहीं, महिलाएँ करती हैं। शमशान के कच्चे रास्ते पर चलते हुए एक महिला कहती है कि – ‘इस बार मैं वोट उसी को दूँगी जो इस सड़क को पक्का बनवा देगा।’ महिलाएँ तो बात कर चुप रह जाती हैं किन्तु रामप्यारी भरतिये को हवेली देकर, तालाब खुदवाने, स्कूल बनवाने तथा बैंक खुलवाने की योजना बनाकर नई चेतना को स्वर देती है। वह इस उपन्यास कि सबसे सशक्त और महत्वपूर्ण किरदार है। इस उपन्यास के बहाने समाज की कुप्रथाओं को तोड़ने और स्वस्थ वृत्तियों से जुड़ने की बात की गई है।

कुछ-कुछ व्यंग्यात्मक शैली में लिखे इस उपन्यास की वाक्य रचना गुदगुदाने वाली है, जिसे पढ़ते हुए होठों पर मुस्कान सहज ही फैल जाती है। उपन्यास में कुछ वाक्य गहरे अर्थ समेटे हैं तो कुछ सूत्र वाक्य का कार्य करते हैं।

यथा- “... एक पुरुष कि उपस्थिति महिलाओं के बड़े समूह को घूँघट निकालने पर मजबूर कर देती है...”

“बड़ा तो होता ही ज़हर पीने और ज़िम्मेदारी उठाने के लिए है।”

“समय एक-एक कर सारे नक्काब उतार देता है।”

“अशांत मन इंसान का सबसे बड़ा शत्रु है जो अच्छे-बुरे का फ़र्क भुला देता है।”

“जिसे करीब से जानते हैं उसकी कमज़ोरियाँ भी पहचानते हैं।”

“सच्चाई मालूम होने के बावजूद इंसान अक्सर अजूबे की उम्मीद करता है।”

“जो पंख खोलने का साहस करता है, आकाश नापने का हौसला भी उसी के हिस्से में आता है, आदि आदि।”

इस कृति को इस तरीके से बुना गया है कि मानव व्यवहार के सारे भाव इसमें समाहित हो जाते हैं और पात्र सजीव लगते हैं। पारिवारिक राजनीति की बिसात पर भी कुछ स्थलों पर भावुक कर देने वाले प्रसंग आते हैं, जिन्हें पढ़ते हुए आँखें गीली हो जाती हैं। यथा- रामप्यारी अपनी बड़ी ननद की मृत्यु पर कहती है - “बिदा बाई-सा...। बाई-सा, आँसू सूख गए या खत्म हो गए, सच क्या है ये तो मैं भी नहीं जानु पर अपना रिश्ता इस दिखावे से ऊपर का है।” बेंत टिकाते हुए वह एक बार फिर पैरों की ओर से चलकर ननद का माथा सहलाने पहुँच गई।

“आपके सारे कष्ट कटे होंगे इसी उमर में... अगले जनम में अपन दोनों चिड़िया बनेंगे। कम से कम उड़-उड़कर देश-दुनिया तो घूमेंगे।” वह हौले से मुस्कराई। ननद के मन की बात जो अक्सर वह कहा करती थी, आज रामप्यारी ने कह दी।”

उपन्यास की भाषा सहज सरल और रोचक है तथा कल्पना को यथार्थ में बदलती हुई-सी महसूस होती है और माटी की सुगंध तथा स्थानीयता का बोध गहराई से करवाती है।

शैली बोधगम्य है, जो पाठक को उपन्यास से जोड़े रखने में सफल होती है। हाँ, उपन्यास में कहीं कुछ वाक्यों और भावों का दोहराव हुआ है, जिससे बचा जा सकता था। उम्मीद करती हूँ कि द्वितीय संस्करण में इसे ठीक कर लिया जाएगा।

वन्दना यादव ने इस उपन्यास में पारिवारिक सच्चाई के प्रति सतर्क रहते हुए समय के प्रति सजग होकर समाज की विद्रूप व्यवस्था को उद्घाटित करने का सफल प्रयास किया है तथा वर्तमान की जटिलताओं को भी रेखांकित किया है। निश्चित ही यह उपन्यास पाठकों को पाठकीय और वैचारिक सुख देगा।

—साहित्यकार, अमरावती, Email : ashapandey286@gmail.com

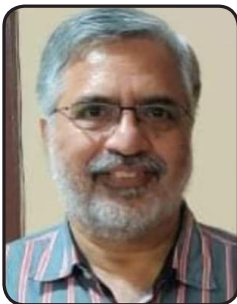


‘सृजन साहित्य’ से सम्मानित होते हुए



‘काका साहब कालेलकर समाज सेवा सम्मान’ से सम्मानित होते हुए

कितने मोर्चों पर वन्दना यादव



प्रियदर्शन

वन्दना यादव से मेरी पहली मुलाकात वाणी प्रकाशन की प्रबंध निदेशक अदिति माहेश्वरी की शादी में हुई थी। उस दिन हमारी कोई बातचीत नहीं हुई थी, लेकिन उनके व्यक्तित्व में एक सौम्यता थी जिसने अपनी ओर मेरा ध्यान आकृष्ट किया था।

बाद के वर्षों में मैंने पाया कि वन्दना यादव के व्यक्तित्व में सौम्यता का यह तत्व अपरिहार्य रूप से अनुस्यूत है। यह सौम्यता सिर्फ शालीन दिखने वाले तौर तरीकों की नहीं है- जिसे हम 'मैनरिज्म' कहते हैं - बल्कि यह अपनी और दूसरों की सरहदों को पहचानने और उनका अतिक्रमण न करने के सजग अभ्यास से विकसित हुई है। वे खुद एक दायरे में रहना पसंद करती हैं और दूसरों को भी इजाजत नहीं देती कि वे इसे फलांगें।

इन्हीं वर्षों में मैंने यह महसूस किया कि वह कम बोलती हैं, नरम बोलती हैं, मगर जहां जरूरी लगे, वहां मजबूती से अपनी बात रखती हैं। दूसरी बात यह कि वह बहुत संजीदा लेखक है। वे अलग-अलग विधाओं में लिखती हैं, लिखने से पहले पूरा शोध करती हैं और किसी कृति को इसके बाद ही अंतिम रूप देती हैं। इस काम में उनकी यात्राएं भी उनका साथ देती हैं। वे जगह-जगह जाती हैं, उन्हें देखती हैं, उनसे जुड़ती हैं और फिर उन पर लिखती हैं।

यही नहीं, उनके लेखन का दायरा विपुल है। उनका एक उपन्यास सैन्य परिवारों की उन महिलाओं पर केंद्रित है जिनके पति सरहद पर तैनात हैं। 'कितने मोर्चे' नाम का यह उपन्यास इन महिलाओं के जीवट और संघर्ष दोनों की दास्तान है। यहां यह जोड़ना जरूरी है कि कम से कम मेरी जानकारी में सैन्य परिवार की महिलाओं पर केंद्रित हिंदी का कोई दूसरी उपन्यास नहीं है। शायद परिवार की सैन्य पृष्ठभूमि ने उनका ध्यान इस बेहद जरूरी विषय की ओर खींचा हो।

मैं जिस उपन्यास की यहां विशेष चर्चा करना चाहता हूँ, वह 'शुद्धि' है। इस उपन्यास के केंद्र में सामाजिक कर्मकांड और पारिवारिक तनाव है। परिवार के बुजुर्ग की मौत हुई है। उसके अंतिम

संस्कार से पहले घर-परिवार की जो धिचपिच है, उसका बहुत मार्मिक और विश्वसनीय अंकन वन्दना जी ने किया है। उपन्यास अपने ढांचे में मूलतः यथार्थवादी है, लेकिन उपन्यासकार ने कल्पना की एक छूट ली है। जिस शास्त्र की मौत हुई है, वह सबकुछ देख-सुन, महसूस कर रहा है। वह देख रहा है कि किस तरह उसके बच्चे उसकी पत्नी की अवमानना कर रहे हैं, कैसे वह अकेले खड़ी होकर सारी चीजों को संभालने में लगी है। वह बड़ी मायूसी से बार-बार अपनी पत्नी की मदद करना चाहता है, लेकिन कर नहीं सकता। उधर मृतक के अंतिम संस्कार के कर्मकांड में जो कुछ हो रहा है, वह भी शोक से ज़्यादा रस्म-अदायगी है और एक तरह की छीनाझपटी भी। यह दरअसल तमाम भारतीय परिवारों में देखा जाने वाला वह अनुभव है जिसे सब पहचानते हैं, लेकिन शायद इसे कहने या इसके आधार पर बदलने से डरते हैं।

इस उपन्यास का अपना एक प्रवाह है। कहानी बिल्कुल उस गति से बढ़ती है जिससे उसे बढ़ना चाहिए। हालांकि दो बातें इस कथा-आख्यान में चुभती हैं। परिवार के भीतर एक के बाद एक हो रही मौतें कुछ हैरान करने वाली हैं। आखिर लेखिका इतने सारे लोगों को मार कर क्या हासिल करना चाहती है? क्या इससे कथा सूत्र के विस्तार में कोई मदद मिलती है?

दूसरी बात यह कि कथा के विन्यास में एक त्रुटि चली आती है। कहानी का एक हिस्सा यह इशारा करता लगता है कि जिसकी मौत हुई है, वह दूसरे घर में शिशु के रूप में जन्मा है। लेकिन पता नहीं, क्या सोच कर लेखिका ने यह कहानी अधूरी छोड़ दी। या तो इस हिस्से को बढ़ा कर किसी तार्किक मोड़ तक पहुंचाना चाहिए था या फिर इसे पूरी तरह हटा देना चाहिए था। ये दोनों काम नहीं हुए।

दरअसल यहां वन्दना यादव के लेखन पर ठहर कर विचार करने की जरूरत महसूस होती है। वे लिखती हैं, विषय को छूती भी हैं, लेकिन किसी वजह से उस गहराई का निर्वाह नहीं कर पातीं जो विषय से अपेक्षित है। उनके उपन्यास पठनीय हैं, लेकिन पढ़ने के बाद वे देर तक साथ बने रह सकें- ऐसा नहीं हो पाता। वे जैसे सतह छू कर रह जाती हैं। उन्हें भाषा को साधना आता है, विचार और संवेदना को तारतम्य देना भी आता है, लेकिन गहरे समंदर में सांस रोक कर जैसे

देर तक गोता लगाने के बाद कोई मोती खोज लाने का यत्न उनके यहां नजर नहीं आता।

इन दिनों वे एक ऑनलाइन पत्रिका 'पुरवाई' में एक स्तंभ लिख रही हैं- 'मन के दस्तावेज़' नाम का यह स्तंभ अपने आसपास के, रोजमर्रा के जीवन के सभी विषयों को समेटता चलता है। यह स्तंभ उनकी सकारात्मक दृष्टि का परिचायक है। इसकी एक बानगी पांच फरवरी के अंक में प्रकाशित उनकी टिप्पणी में देखी जा सकती है। 'बोरियत का सामना' शीर्षक इस टिप्पणी के अंत में वे सुझाव देती हैं-

‘खुद को तकलीफ देने का कोई जरिया अपने नजदीक ना आने दें। आप खुद भी अपने लिए सजाएं मुर्कर मत कीजिए। खुद को खुश रखने, जीवंत बने रहने के सारे प्रयास करते रहिए। अकेलेपन से मन के उकताने का इंतज़ार ना करें। बोरियत इतनी ना हो जाए कि मर्ज ही बन जाए! खुद को लगातार अपने-आप से बाहर निकालिए। पारिवारिक उत्सवों, आयोजनों में भागीदारी बढ़ाते रहिए जिससे मन में उर्जा बनी रहे। जीवन जीने की चाह बनी रहे। मन उत्सवमयी बनाए रखिए जिससे हर पल खुशनुमा रहे।

एक मंत्र मुट्ठी में बाँध लीजिए – ‘यह जीवन मेरा है और इसे सुंदरतम बनाने की जिम्मेदारी सिर्फ मेरी है।’ इस मंत्र को हर समय याद रखें। कुछ ही समय में ऐसा होगा कि आपके बदले व्यवहार से आसपास का माहौल भी बदलने लगेगा। सकारात्मकता अपना दायरा विस्तृत करने लगेगी। आप महसूस करेंगे कि जीवन सुंदर बन रहा है।’

निस्संदेह, यह प्यारा सा, और बहुत व्यावहारिक सुझाव है। लेकिन साहित्य या विचार की दुनिया ऐसे प्यारे-व्यावहारिक सुझावों से आगे जाती है। वह उन वास्तविक उलझनों को पकड़ती है जो जीवन को एक अलग तरह के संघर्ष में बदल डालते हैं। जीवन सिर्फ सुख से नहीं बनता, बनना भी नहीं चाहिए, वह दुख के धागों से भी सिला होता है। हम इस दुख में न डूब जाएं, यह जरूरी है, मगर इस दुख को पहचानें और उससे जीवन के कुछ मूल्यवान सबक सीखने की कोशिश करें- यह भी जरूरी है।

इसी तरह 25 जून को प्रकाशित स्तंभ में वे लिखती हैं- ‘उम्मीद बनाए रखें’। इसकी शुरुआत में वे लिखती हैं- ‘इंसानी आबादी धरती के एक बड़े भाग पर मौजूद है। सदियों से यहाँ रहते हुए लगभग हर संभव स्थान को हमने खोज लिया है। पानी की गहराई नापने के साथ मनुष्य अंतरिक्ष को भी अपनी ज़द में लेने को लालायित हैं। अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बड़े-बड़े प्रोजेक्ट्स चलाए जाते रहे हैं जिससे सैंकड़ों वर्ष पूर्व की इंसानी सभ्यता को समझने में मदद मिल सके।

चंद्रमा पर पानी की तलाश अक्सर समाचारों में प्रमुखता से छाई रहती है। इस सबका मतलब क्या यह है कि हमने सब कुछ जान लिया है? क्या हमने अधिकतर रहस्यों से पर्दा उठा लिया है? और यदि यह सच है तब क्या हमें अपनी खोज को विराम दे देना चाहिए?’

निश्चय ही टिप्पणी में ऐसे किसी खयाल से असहमति जताई गई है और बताया गया है कि ज्ञान और खोज का सिलसिला जारी रहना चाहिए। लेकिन सवाल यह है कि कब किसने कहा कि अब धरती पर सबकुछ खोज लिया गया है और इसलिए आगे किसी खोज को विराम दे देना चाहिए? कभी लगता था कि भौतिकी यानी फिजिक्स की दुनिया में कुछ खोजने लायक नहीं बचा, लेकिन बाद में सबको समझ में आया कि अभी तो सितारों के आगे जहां और भी हैं। जाहिर है, वन्दना आगे जो तर्क रखने जा रही हैं, उसकी पृष्ठभूमि वे जहां बना रही हैं, वह ज़मीन कुछ फिसलन भरी है।

हालांकि इस स्तंभ पर इस तरह की आलोचनात्मक टिप्पणी का आशय यह नहीं कि यह कोई कमजोर या अपठनीय स्तंभ है। उल्टे यह भरपूर पठनीय है। अपने छोटे कलेवर में भी यह कई बार गहन सवाल उठाता है और उनके जवाब खोजने की भी कोशिश करता है। यह संभव है, यह इस कॉलम का मिज़ाज हो जिसके तहत वन्दना एक खास तरह की सकारात्मकता के साथ यह स्तंभ लिख रही हों।

बहरहाल, यह सकारात्मकता वन्दना यादव को कई मोर्चों पर सक्रिय रहती है। शायद उनके उपन्यास का नाम ‘कितने मोर्चे’ एक अन्य अर्थ में खुद उनके लिए सार्थक हो उठता है। वे कविताएं भी लिखती रही हैं। उनकी एक लंबी कविता ‘आज मुझे दर्शक दीर्घा से कुछ लोग दिखे’ बहुत सूक्ष्म ढंग से हमारे समय की राजनीतिक-सामाजिक विडंबनाओं पर चोट करती है। यह शायद संसद की दर्शक दीर्घा है जिसका कविता में अलग से उल्लेख नहीं है, लेकिन यहां से जो दृश्य उन्हें नजर आ रहा है, उसकी कुछ पंक्तियां इस तरह हैं-

‘कुछ सत्ताधारी, उपेक्षित से पड़े थे

कुछ विरोधी, सत्ता पाने की उम्मीद में डटे थे

कुछ निर्दलीय अपना वजूद तलाश रहे थे।

कुछ लठैत थे,

कुछ समाचारों में बताए – डकैत थे।

कुछ जेल काट कर पहुंचे थे

कुछ को शायद अभी जेल जाना था

और कुछ ने जेल वाले मसाले को

सियासत से जोड़ कर

वोट बैंक बना लिया था ।
 कुछ ऐसे भी दिखे,
 जिन पर अदालत में लंबित केस थे ।
 कुछ ने अपील दायर कर दी थी ।
 लोकतंत्र के मंदिर में कुछ वो भी थे
 जिन्होंने
 दया की अर्जी
 – न्याय के मंदिर में लगा दी थी ।’

समझना मुश्किल नहीं है कि वन्दना यादव के लेखन में सरोकार और साहस दोनों प्रचुर हैं और उनकी सकारात्मकता इनका अपने ढंग से इस्तेमाल करती है। उनको पढ़ते हुए एक तसल्ली सी मिलती है। हालांकि तसल्ली साहित्य में काफी नहीं होती। अच्छा साहित्य वही नहीं होता जो सुकून भरी नींद दे, वह भी होता है जो नींद उड़ा दे।

वन्दना जी लगातार सक्रिय हैं। उनका साहित्यिक सफ़र जारी है। उम्मीद करें कि आने वाले दिनों में हमें ऐसी रचनाएं भी मिलेंगी जिनसे गुज़रते हुए रातों की नींद उड़े, तकलीफ़ में सीना चाक हो या यह सब न भी हो तो उनकी किताबों के साथ हम देर तक और दूर तक चल सकें।

लेखक-पत्रकार, दिल्ली, Email : priyadarshan.parag@gmail.com



साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित 'साहित्योत्सव' के दौरान लेखकों के परिचय से परिचित होते हुए।



हिन्दी भवन में स्त्री शक्ति सम्मान ग्रहण करते हुए



रमणिका गुप्ता के साथ



आबिद सुरती के साथ बाल साहित्य पर चर्चा करते हुए।

वन्दना यादव का उपन्यास 'कितने मोर्चे' : एक संवेदनात्मक मूल्यांकन



पूजा राय

संवेदना शब्द को व्याख्यायित करने का प्रयत्न अनेक साहित्यिक विद्वानों ने किया है, जिनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं-

“संवेदना का अर्थ सुख-दुःखात्मक अनुभूति है, उसमें भी दुःखानुभूति से इसका गहरा संबंध है। संवेदना शब्द अपने वास्तविक या अवास्तविक दुःख पर कष्टानुभव के अर्थ में आया है। मतलब यह कि अपनी

किसी स्थिति को लेकर दुःख का अनुभव करना ही संवेदना है।”

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिंतामणि भाग-1, पृष्ठ 35

“आचार्य शुक्ल ने अपने इतिहास के आमुख में ‘जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन की बात कही थी। आज की भाषा में चित्तवृत्तियों के संश्लेषण को संवेदना कहा जाएगा।”

रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास
(भूमिका)

कथा-साहित्य के संबंध में समग्र रूप से कहा जा सकता है कि इसमें मानव मात्र की आशा-निराशा, सुख-दुःख, अपेक्षाओं, मान-अपमानों, राग-द्वेष, हर्ष-शोक, प्रेम-घृणा, विस्मय, उत्साह, कुंठा आदि के साथ-साथ सामाजिक विषमता, रूढ़ियों परंपराओं में जकड़ा मजबूर मनुष्य और उसकी टूटती बिखरती आशा, मध्यवर्गीय तनाव, घुटन तथा अजनबीपन आदि की सोद्देश्य अनुभूति करा देना एवं मनुष्य को मनुष्यत्व की पहचान करा देना वास्तविक अर्थ में संवेदना है।

‘कितने मोर्चे’ उपन्यास के संवेदना के मूल में सीमाओं पर तैनात सैनिकों या राष्ट्र की सुरक्षा में प्रतिपल एकनिष्ठ भाव से अपना सर्वस्व समर्पित कर देने वाले उन वीर सिपाहियों का परिवार है, जो प्रायः अनजान, अचिन्हित तथा अनदेखा रह जाता है। उस सिपाही के परिवार का पूरा जीवन संघर्ष, उपन्यास को संवेदनाओं के गहन

दस्तावेज के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है। इस उपन्यास की लेखिका वन्दना यादव स्वयं एक सैनिक की पत्नी हैं, इसी कारणवश वे अपने अनुभवों के धरातल पर इस सजीव और संवेदना संपन्न उपन्यास का निर्माण करने में सफल रही हैं।

वन्दना जी ने इस उपन्यास के माध्यम से सैनिकों के परिवार में पिता के अभाव में उनकी संतानों पर पड़ने वाले विपरीत प्रभावों की ओर ध्यान केन्द्रित किया है। यह प्रभाव अनेकों प्रकार के मनोवैज्ञानिक तथा जाहिर गतिविधियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। बच्चों का मानसिक पटल विकास के दौर से गुजर रहा होता है। इस दौरान उन्हें एक उचित अनुशासन, स्नेह और पिता के साथ की आवश्यकता होती है। किन्तु जब बच्चे का सैनिक पिता जब लम्बे समय के लिए ड्यूटी पर होता है तथा ऐसा होना लगातार जारी रहता है, तब बच्चों के कोमल मन में उसका स्थान विस्थापित तथा गैर जरूरी सा होने लगता है- “अकेले बच्चे बड़े करना तपस्या नहीं, उससे आगे की चीज हैं... उन्हें बाप का डर होना चाहिए नहीं तो वह निरंकुश हो जाते हैं।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय तीन: पृष्ठ 47

“कुसुम यार, ड्यूटीज़ करते-करते थक गई हूँ। कुछ दिन लेह जाना चाहती हूँ, सूरज के पास।” जो कहना चाहती थी वह ना कह कर उसने गोलमोल करके बात कही। “तो जाओ प्रॉब्लम क्या है?”

‘कितने मोर्चे’ (उपन्यास) अध्याय तीन, पृष्ठ 46

वह कुसुम से अपनी चिंता जाहिर करते हुए उसे स्वयं चिंतित कर देती है। कुसुम सोच में पड़ जाती है कि किस प्रकार से वह अपने बच्चों के भविष्य के विषय में सफल निर्णय ले सकेगी।

प्रायः सैनिकों के ड्यूटी पर जाने के पश्चात् उनके घर पर, यदि वह एकल परिवार हैं तो और अधिक असुरक्षा की स्थिति बनी ही रहती है। उन्हें ऐसी ही परिस्थितियों में पड़ने से बचाने के लिए फौज ने एस-एफ क्वार्टर्स बना कर दिये हैं। ताकि जब सैनिक सैन्य गतिविधियों में संलग्न हों, उस स्थिति में उसके परिवार के सदस्यों

में एक स्थायी सुरक्षा का भाव विद्यमान रहे। तभी सैनिक को भी किसी अन्य प्रकार की मानसिक चिन्ता नहीं रहेगी और वह पूरा ध्यान अपनी सैन्य गतिविधियों में लगा सकेगा।

लेकिन हमारे समाज की वास्तविकता तो यह है कि यहाँ एक अकेली स्त्री का अपने छोटे बच्चों के साथ रहना, सदैव उसे इस डर के घेरे में रखता है कि कहीं कोई अनहोनी न हो जाए क्योंकि अभी हमारा समाज अपने मध्यकालीन परिवेश से निकलकर पूर्णतः बाहर आ पाने में सफल नहीं हुआ है। यह प्रक्रिया अभी धीमी गति से चल रही है। ‘कुसुम’ जो इस उपन्यास की प्रमुख पात्र है व उसके पति कर्नल संदीप जब सुदूर क्षेत्र में ड्यूटी पर कार्यरत है उस दौरान कुसुम को अकेले ही अपना घर शिफ्ट करना पड़ता है।

“कहाँ तलाशूँ उस परिवार को जिसने हमारे गेराज पर ताला लगा रखा है? क्या मुझे हर एक घर की डोरबैल बजा कर पूछना पड़ेगा। वह समस्या का हल ढूँढ़ने की कोशिश कर रही थी।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय छः, पृष्ठ 107

दो लोग उसे परेशान करने व डराने के उद्देश्य से उसके घर आकर बदतमीजी करने का प्रयास करते हैं। दो पुरुषों के दुस्साहस के समक्ष वह अकेली स्त्री हार नहीं मानती बल्की तुरंत ही स्थिति को भांप जाती है और सोच समझ कर प्रतिक्रिया देती है- “कुसुम को अकेली औरत समझ कर दोनों आदमी रणनीति बना कर आए थे और फौजी हिसाब-किताब से जनरली का खौफ भी साथ लाए थे। दोनों की बॉडी लैंग्वेज बता रही थी मानो गलती कुसुम ने की है और वे दोनों अब उससे माफ़ी मंगवाने आए हैं।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय छः, पृष्ठ 108

इस प्रकार की समस्याओं को अध्ययन करने के पश्चात् यह तय कर पाना मुश्किल होने लगता है कि एक अकेली महिला अपने परिवार के सुदृढ़ विकास के लिए एक तरफ तो सभी प्रकार के यत्न करती है तथा वहीं दूसरे परिदृश्य में उसे घर की, बच्चों की तथा स्वयं की सुरक्षा के लिए निडर होकर रहना पड़ता है, किन्तु यह निडरता केवल बाहरी समाज को यह दिखाने के लिए कि वह सुदृढ़ है। अन्यथा उस स्त्री के मन में भी असुरक्षा का भय समाया ही रहता है।

फौजी की पोस्टिंग हर दो साल पर एक नए स्थान पर होती है। ऐसी परिस्थिति में उसके परिवार को बार-बार अपना घर बदलने को बाध्य होना होता है। इसमें कई प्रकार के उतार-चढ़ाव होते हैं। अब यदि यह स्थिति बन जाए कि परिवार में एक स्त्री तथा उसके

बच्चे के अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति उपस्थित न हो तो अकेले ही घर को शिफ्ट करना अत्यंत पीड़ादायी कार्य हो सकता है। कुसुम का फोन पर अपने पति से यह संवाद गौरतलब है- “घर की ही चीज को संभाल-संभाल कर पैक करना, नए घर की साफ-सफाई और उसके बाद एक मकान खाली करके दूसरी जगह फिर से ज़िंदगी बसाना। शुरू से लेकर आखिर तक हर चीज को तुम्हारे हाथों से गुज़रते हुए देखा है मैंने। कितने सालों से कितनी मेहनत कर रही हो तुम! मैं तुम्हारे जितना काम कभी नहीं कर सकता।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय पाँच, पृष्ठ 86

आर्मी ऑफिसर्स की मृत्यु के पश्चात् उनके परिवार को अत्यंत कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। इस बात से सामान्यतः सभी वाक़िफ़ होते हैं, लेकिन जिन लोगों को, व्यक्तिगत तौर पर उन स्थितियों से पार पाना होता है, असल दुख तो वे ही समझ सकते हैं। उस परिवार पर तो जैसे दुखों का पहाड़ ही टूट पड़ता है। मानसिक पीड़ाओं से तो व्यक्ति एक समय के पश्चात् उबरने लगता है, किंतु जो आर्थिक कष्ट जीवन भर के लिए टूट पड़ते हैं वे तो बड़े ही मारक सिद्ध होते हैं।

“आर्मी शॉपिंग कॉम्प्लेक्स में जब अपने बुटीक के लिए मैं शॉप माँगने गई थी तब उन्होंने मुझे वहाँ जगह नहीं दी। मुझे कहा गया था, “वी हैव सिम्पैथी फॉर यू, उस शॉपिंग सेंटर में बुटीक बनाने का ऑप्शन नहीं था।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय एक, पृष्ठ 23

मनुष्य की संवेदनाओं को प्रकृति ने कुछ इस प्रकार से गढ़ा है कि उसे ‘टूटने’ पर मानसिक पीड़ा अवश्य होती है। घर का निर्माण प्रेम और संवेदनाओं के धरातल पर होता है इसीलिये जब उस घर को छोड़ कर जाना पड़ता है तो केवल उस घर से ही बिछुड़ना नहीं होता अपितु उस पूरे परिवेश से अलग हो जाना होता है। लेखिका ने इस उपन्यास में ऐसे मर्मस्पर्शी स्थानों को भीतर तक संवेदना से भर दिया है। किस प्रकार से जिस घर में ‘कुसुम’ रह रही है उसकी प्रत्येक वस्तु को उसने स्वयं अपने हाथों संवारा है तथा उन सभी सजीव तथा निर्जीव वस्तुओं के साथ-साथ घर के प्रत्येक हिस्से से उसका मानसिक जुड़ाव व घनिष्ठता हो गई है। “बारामदे में कंदील और लैम्प मिला कर कुछ नौ जगह मन्द रोशनी का इन्तजाम कर रखा है। अलग-अलग रंगों में रंगे सरकंडों के पीछे से आती बल्ब की रोशनी यहाँ जादुई अहसास जगाती है। बड़ी वाली टेबल के साथ लकड़ी के

पतले-लम्बे फूलदान में उसने मोरपंख रखे हैं। परिवार के सदस्य और मेहमानों के लिए घर का यह हिस्सा जन्मत से कम नहीं। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय एक, पृष्ठ 31

‘कुसुम’ सिया को यह अभी बताना नहीं चाहती की उसका घर अब बदल जाने वाला है, क्योंकि अगले दिन से उसकी परीक्षाएँ हैं तो इस बात का उस पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े। “कुसुम ने समय देखा, दस बज चुके थे। अचानक आई इस खबर ने जैसे ठहरे पानी में हलचल मचा दी। वह आज किसी किस्म का बदलाव नहीं चाहती थी, घर के माहौल में, बातों में या व्यवहार में, कहीं भी नहीं। अगले दिन से सिया की परीक्षाएँ शुरू होने वाली हैं, वह हर बात अपनी बेटी को ध्यान में रखकर करना चाहती है। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय एक, पृष्ठ 34

पति-पत्नी के मध्य जो संबंध होता है वह असल में सच्चाई की बुनियाद पर आधारित होता है। इस नाजुक से रिश्ते को प्रेम तथा विश्वास के द्वारा ही सिंचित किया जा सकता है, झूठ फरेब या धोखा देखकर इसकी आधारभूत पृष्ठभूमि को ही नष्ट किया जाता है। एक रिश्ते के टूट जाने से अनेकों प्रकार की विषम व नकारात्मक परिस्थितियों का जन्म होने लगता है। इस उपन्यास में कई ऐसे मोड़ आए हैं जहाँ हमें यह ज्ञात होता है कि फौजियों के द्वारा फिल्ड पोस्टिंग के समय उनके संबंध किसी अन्य स्त्री के साथ भी हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में उस फौजी या ऑफिसर का परिवार भावनात्मक रूप से बहुत अधिक प्रभावित होता है। यह धोखे की स्थिति ऐसी है कि उस फौजी की पत्नी को यदि वह कम सचेत है अथवा अशिक्षित है तो और अधिक परेशानियों का सामना करना पड़ सकता है। यह कथन इस बात की पुष्टि करता है। “कर्नल खान छुट्टी पर आते हैं तब उनका व्यवहार कैसा होता है? कुछ देर सोच-विचार के बाद कुसुम ने पूछा। ” पहले तो ठीक था पर अब तो छुट्टी ही नहीं आते। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय चार, पृष्ठ 67

“कर्नल खान छुट्टी पर नहीं आते, ऐसा कैसे हो सकता है? तुम कौन-सी दुनिया में रह रही हो रज़िया? फौज अपने बन्दों को जबरदस्ती छुट्टी भेजती है। वो आना चाहें या ना आना चाहें, उन्हें छुट्टी देकर घर भेजा जाता है। ” कुसुम ने उसे नियम समझाया। “तुमने पता किया कि वो क्यों नहीं आते?” सेना के नियम-कायदों की जानकारी ने कुसुम को अगला कदम उठाने का हौसला दिया।

किससे पता करूँ? वो खुद ही आना नहीं चाहते। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय चार, पृष्ठ 67

पुरुष की नैतिकता का पतन आम तौर पर हमारे समाज में स्थायी रूप से विद्यमान नहीं है। किंतु ऐसा अमुमन देखा गया है कि स्त्रियाँ पुरुषों के अनैतिक प्रेम संबंधों को जानते समझते हुए भी मौन रह जाती हैं।

पीढ़ियों में आए अंतर का प्रभाव सामान्यतः परिवारों में देखा जाता है। यह जिस तरह से समाज के बाकी हिस्सों में परिलक्षित होता है, उस तरह से ही फौजियों के उन परिवारों में भी देखा जा सकता है जहाँ एक क्वार्टर में उनका परिवार रहता है, लेकिन यहाँ पर जो फर्क नज़र आता है, वह इस रूप में कुछ अधिक संवेदनशील है कि यहाँ इस ‘एकल परिवार’ के एक अति महत्वपूर्ण सदस्य का स्थान अधिकतर रिक्त रहता है। वह स्थान है ‘पिता’ का। इस कारण से उस स्थान को भरने का भी भरसक प्रयास ‘माँ’ द्वारा ही किया जाता है, लेकिन एकल परिवार की इस परिधि में वह ‘माँ’ अनेक प्रयासों के बावजूद भी हर भूमिका को पूरा नहीं कर सकती, इसी कारण से एकल परिवारों में बच्चों तथा अभिभावकों के मध्य की दूरी अधिक बढ़ गई है। “इतने गैर-जिम्मेदार कैसे हो सकते हैं बच्चे? रात को घर से गायब...” वह चुप हो गई। ... दरवाजे का ताला खुलने की आहट हुई। बिना आवाज़ किए कुछ पैर घर के अन्दर दाखिल हुए। यह सिलसिला कुछ देर चला और फिर इतनी सावधानी से दरवाज़ा बन्द किया कि किसी तरह की आवाज़ नहीं हुई। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय सोलह, पृष्ठ 279

कुसुम के सो जाने के पश्चात् बच्चे घर से निकलते हैं, दोस्तों के साथ सैर-सपाटा करते हैं। इन सबसे बेखबर कुसुम जब अचानक ही नींद से जाग उठती है तो उसे पता चलता है कि असल में यह सब हुआ है अब उसका चिंतित होना स्वाभाविक है।

बच्चों के परिवारों में अलग-अलग संस्कारों का वहन होता है, लेकिन सामान्यतः परिवारों में इस विषय पर राय समान ही होती है कि नशीले पदार्थों से बच्चों को दूर रहने की हिदायत दी जाए अन्यथा उससे इनका परिचय सजगता के साथ करवाया जाए। ताकि वे छिप कर कुछ गलत न कर बैठें। “तुम्हारी पार्टी में अपनी जेब से खर्चा करके दारू मैं लाया और तुम कह रहे हो कि मैं माहौल खराब कर रहा हूँ। ” ध्रुव बिफरने लगा था। “मैंने नहीं कहा था तुझे ये सब लाने के लिए। तू लाया ये ठीक है पर लड़कियों से ज़बरदस्ती क्यों कर रहा है?” विनय को ताव आ गया था। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय सत्रह, पृष्ठ 288

इन सभी स्थितियों को जानते बूझते हुए कुसुम स्वयं बीच में नहीं आ रही थी, क्योंकि वह चाहती थी कि बच्चे क्या प्रतिक्रिया देते हैं, वो यह जान सके। तथा यह देख सके कि वह कितने परिपक्व हो रहे हैं, क्या वे उन परिस्थितियों से लड़ने में सक्षम हैं जो संघर्ष की मांग करते हुए जीवन में आना शुरू हो गई हैं और आगे और भी आएंगी।

‘अनुशासन’ की आवश्यकता अमुमन प्रत्येक मनुष्य के जीवन में अथवा कार्य क्षेत्र में होती है किन्तु सेना का तो पर्याय ही अनुशासन होता है। तब बात आती है उनके इस जीवन शैली के कारण उनके परिवार पर पड़ने वाले प्रभावों की जिसके कारण ही उन्हें इसके असामान्य परिणाम देखने पड़ते हैं, यह विभिन्न प्रकार से घटित होते हैं। वन्दना जी के इस उपन्यास के अंतर्गत आने वाले इन सन्दर्भों को हम समझने का प्रयास करेंगे। लेखिका का यह कथन बहुत कुछ कहता है। “अनुशासन का डंडा, परिवारों की बजाय, सरहद पर बैठे सैनिकों पर पड़ा और स्टेशन हैडक्वार्टर के आदेशों का पालन हो गया।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय चौदह, पृष्ठ 257

यह ज़िन्दगी आसान नहीं होती लेखिका स्वयं इस जीवन से लम्बे समय तक जुड़े रहने के कारण इस पर खुल कर उपन्यास में बात करती है। “सैनिक जीवन अनगिनत रंगों से भरा होता है। ज़िन्दगी का हर उतार-चढ़ाव वे परिवार से दूर रहकर सहते हैं। माँ-बाप और भाई-बहनों से मिलना कई बार वर्षों के अन्तराल पर होता है। कहा जाता है कि फौजी ‘रफ एंड टफ’ होते हैं, यह सुनने में अच्छा लगता है मगर हर दिन इस सच्चाई के साथ जीना आसान नहीं होता।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय सत्रह, पृष्ठ 274

यथार्थ तो यह है कि उसे ऐसा करते हुए अपने मन की बहुत सी बातों, इच्छाओं का गला घोटना पड़ता है और दो बहुत ही कठिन व कठोर ज़िन्दगियों के बीच का संघर्ष लगातार लम्बे समय तक चलता रहता है। उस स्त्री के ऊपर एक भावनात्मक दबाव भी होता है, जिसका लेखिका ने उल्लेख किया है। “हर औरत जब अपने फ़ौजी पति से बात करती है तब याद रखती है कि परिवार की खबरें उसे इस तरह दे कि वह वापस इस जन्त में लौटना चाहे। तनाव वह अकेले झेलती है। पेशानियों की खबर भी उधर जाने नहीं देती।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय सत्रह, पृष्ठ 274

बच्चों में अनुशासन को लेकर एक ‘ढीठ’ बर्ताव मन में पनपने लगता है। वे उससे चिढ़ने लगते हैं तथा उसके बुरे परिणाम उनके

व्यक्तित्व पर पड़ते हैं। इसके मनोवैज्ञानिक पक्ष पर विचार करें तो हम पाते हैं कि इसका एक कारण तो यह है कि इस अनुशासित परिवेश के कारण वे अपने पिता से दूर रहने को मजबूर हैं। इस तरह की परिस्थितियों का प्रभाव अलग-अलग बच्चों पर अलग-अलग ढंग से पड़ता है। कुछ बच्चे इससे और अधिक परिपक्व हो जाते हैं तथा कुछ नकारात्मक रूप से प्रभावित होते हैं। उपन्यास में इसका एक उदाहरण एक घटना के माध्यम से दिया गया है। यहाँ मिसेज सांगवान का बेटा परिक्षा में असफल हो गया है तो उसके पिता का आक्रोश उबल पड़ता है। यह आक्रोश उसकी पत्नी पर भी है और बेटे पर भी। “‘दरवाज़ा खोल, खोल दरवाज़ा... हरामखोर, अन्दर कहाँ छिपेगा? बाहर आ... दरवाज़ा खोल...’ एक के बाद एक भद्दी गालियाँ बन्द दरवाज़े से अन्दर आने लगीं। पति की आवाज़ सुनने के बाद मिसेज सांगवान की स्थिति खराब होने लगती है। “मिसेज सांगवान ने अपने बेटे का व्यवहार देख कर दो-तीन कदम आगे बढ़ाए थे। वे अपनी जगह जड़ हो गई। गालियों की बौछार और चिल्लाहट से वह थर-थर काँपने लगीं।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय बीस, पृष्ठ 319

किसी फौजी की मृत्यु के पश्चात् उसके परिवार की क्या स्थिति होती है, उनके भविष्य में आगे क्या होता है यह सोचने या समझने का ख्याल करें तो हम पाएँगे की देश के नागरिकों में इसका समाचार पाकर कुछ समय का शोक गहराता है। उस फौजी के प्रति मन में गर्व का भाव भी जागृत होता है, फिर उसके परिवार के प्रति संवेदना का भाव भी मन में ऊपजता है। सरकार भी अपनी तरफ से उसे, कोई मेडल या सम्मान दे देती है। उसके परिवार को सांत्वना के रूप में कुछ धनराशी भी आवांठित कर दी जाती है, लेकिन उसके बाद उस परिवार का क्या होता है, इसकी कोई सुध नहीं लेता।

“हर तरह के हालात का मुकाबला करने की कुव्वत रखने वाली सहेलियों की आँखें छलक रही थीं। साझी संवेदनाएँ बह रही थीं... मौन इस समय मुखर था। वे चुपचाप इमारत के बीच वाले हिस्से में पहुँच गई।”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय चौबीस, पृष्ठ 360

पुरुष सिपाहियों की एक छोटी टुकड़ी घटना स्थल पर तैनात है जहाँ परिवार में गमी की खबर आई है। उनके लिये यह खबर संवेदनात्मक स्तर पर गर्व का भाव लिये हुए है, इसलिए वे बहुत विचलित नहीं है। लेखिका उनके विषय में लिखती है कि “औरतें

भावनाओं का दूसरा नाम है और पुरुष दुनियादारी का, इसलिए वे एक-दूसरे के पूरक हैं। ”

“बॉडी कब तक पहुँचेगी?” एक वर्दी ने दूसरी वर्दी से पूछा। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय चौबीस, पृष्ठ 363

जिस स्त्री के पति की शहादत हुई है, वह स्त्री पूरी तरह से विक्षिप्त अवस्था में पहुँच चुकी है। उसे जरा भी होश नहीं है कि वह शीत ऋतु के समय लगभग चार-पाँच घण्टों से बाथरूम में सिमटकर बैठी हुई है। वहाँ से हिल भी नहीं रही। ठण्डे पानी से उसके वस्त्र भीग चुके हैं। किन्तु उसको इस बात का तनिक भी आभास नहीं है। वह इस आस में बैठी है कि कोई आकर इस खबर के झूठे होने की तसकीन कर दे तो वह चैन पा जाए। लेकिन उसके पति का परलोकागमन हो चुका है यही अब सत्य है। यह उसे कोई नहीं समझा पा रहा। वहाँ उपस्थित स्त्रियों का रुदन उसे और अधिक भयभीत कर रहा है।

कुसुम के आने से उसे एक सांतवना मिलती है कि शायद उसका पति अभी जीवित है। “कुसुम ने और एक महिला ने हाथ आगे बढ़ाकर उसकी मदद की। दोनों मिल कर उसे बाहर ले आई। बैड पर बैठी बिटिया जो रो-रो कर चुप हुई ही थी, मम्मी को सामने देख कर बिलख पड़ी। माँ-बेटी, एक-दूसरे से लिपट कर ऊँची-ऊँची आवाजों में रुक्के मार-मार कर रोती रहीं। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय चौबीस, पृष्ठ 362

यहाँ पर स्त्रियाँ केवल एक दूसरे के शोक में धैर्य बंधाने नहीं जाती बल्कि वे सभी उस एक समान परिस्थिति के लिये संभाव्यता को देखती रहती हैं जो उनके मन को विचलित करने के लिये तत्पर है। सभी की स्थितियाँ लगभग एक जैसी होती हैं। सबके पति बॉर्डर पर तैनात होते हैं। जिनकी रक्षा की कामना वे हर सांस के साथ करती हैं। लेकिन जब किसी फौजी की मृत्यु हो जाती है तो उसका परिवार विछिन्न हो जाता है, टूट जाता है। उसकी पत्नी, उसके बच्चों की देख-रेख करने वाला भी कोई नहीं होता। गम का माहौल भविष्य में आने वाले आर्थिक संकट की मार के साथ खड़ा रहता है। क्योंकि उस स्त्री के पास कोई नौकरी नहीं होती, जिससे उसके परिवार का संकट दूर हो सके। जब तक उसके बच्चे बालिग नहीं हो जाते, कुछ धनोर्पाजन की स्थिति में नहीं आ जाते तब तक उसके जीवन की दिशा धूँधली दिखाई देने लगती है। साथ ही बच्चों का भविष्य भी अंधकारमय होने लगता है। पिता का साया सर से उठ जाना और माँ

की दयनीय स्थिति उनके मन पर नकारात्मक प्रभाव डालती है। उस स्त्री का दर्द यह है कि इन परिस्थितियों में भी उसको साहस बाँध कर खड़ा होना पड़ता है। “अब तो मिट्टी बची है पर मिट्टी से भी तो मोह नहीं जाता। बच्चों को सिर पर बैठाए घूमता था, आज उसी के सामने तीनों बच्चे बिलख रहे हैं पर वो उठके उन्हें चुप भी नहीं करवाएगा। ... उस औरत को अपना कलेजा पत्थर का करना पड़ेगा। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय चौबीस, पृष्ठ 366

सरकार के द्वारा एक शहीद की शहादत पर जो मेडल या पुरस्कार उसकी पत्नी या माँ धारण करती है, उसका भार कितना अधिक होता है, यह इस उपन्यास की संवेदना को समझने व जानने के पश्चात् ज्ञात होता है। हमारे देश में इस वर्ग के प्रति सदा से ही गर्व का भाव रहा है, किन्तु सही अनुशीलन तब ही संभव है जब सही जानकारी उपलब्ध हो। वन्दना यादव जी ने नारी के प्रति ‘वीरता’ के भाव को उसी प्रकार परिलक्षित किया है जिस प्रकार से फौजी के संबंध में हम जानते समझते हैं। वह उन स्त्रियों के त्याग व बलिदान को पूरे उपन्यास का केन्द्रिय तत्व मान कर लिख रही थीं। इसीलिए इतना सटीक अनुशीलन कर सकी हैं। “समूचा देश बैठा है कुछ यहाँ, कुछ टेलीविजन के सामने। नागरिक, राजनेता और बड़े अधिकारी तक सब बैठे हैं। वो औरत जो शहीद की विधवा है, वही अकेली खड़ी है। अगर खड़ा होना सम्मान की बात है तो कम से कम इन कुछ मिनटों के लिए तो सबको खड़ा हो जाना चाहिए। ”

कितने मोर्चे (उपन्यास) अध्याय तेइस, पृष्ठ 352

इस कथन के द्वारा लेखिका का इशारा इस ओर भी है कि देश की सुरक्षा के प्रति कर्तव्यनिष्ठता केवल सिपाहियों की नहीं होती अपितु सम्पूर्ण जन समुदाय की जिम्मेदारी है कि वह एक सच्चा देशभक्त हो। यह कोई औपचारिकता का सवाल नहीं है और दिखावे की वस्तु तो बिल्कुल नहीं है। बल्कि यह जिम्मेदारी है, सम्मान का भाव है, सहज प्रेम है तथा एक ऐसी संकल्पना है जिसे मूर्त रूप देने का दायित्व हम सभी देश के नागरिकों का है। देश की रक्षा में अपना सर्वस्व लुटा देने वाले सिपाहियों व उनके परिवारों के प्रति यही सहानुभूति होगी कि हम उनके बलिदान को स्वयं के जीवन में भीतर तक आत्मसात् कर अपने कर्तव्यों का जिम्मेदारी से पालन करें।

—शोधार्थी, हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

Email : rashmi7531906856@gmail.com

कितने मोर्चे



अर्चना उपाध्याय

महिला कथाकारों की यह विशेषता रही है कि वे किसी भी तरह के आंदोलनों के चक्कर में नहीं पड़ीं बल्कि उत्कृष्ट साहित्य की रचना करती चली गईं। उनका लेखन किस्सागोई और मनोविज्ञान को साथ लेकर चलता है। अनुभव की प्रमाणिकता उनकी रचनाओं में परिलक्षित होती है।

वन्दना यादव के उपन्यास 'कितने मोर्चे' के लिए नामवर सिंह जी की भूमिका का यह अंश अपने आप में पुस्तक का पूर्ण परिचय है। सेना की पृष्ठभूमि से जुड़ा यह उपन्यास वन्दना जी के सार्थक लेखन का वह उदाहरण है जो बताता है कि लेखन की गंभीरता के लिए विषय का गंभीर होना आवश्यक नहीं होता बल्कि जीवन से जुड़ा हर विषय उसी गहराई से जिया जा सकता है।

वन्दना जी के पति का भारतीय सेना में कर्नल के पद को संभालना और देश के विभिन्न हिस्सों में हुई उनकी पोस्टिंग के अनुभवों ने उनके भीतर की लेखिका को और विस्तार दिया है।

छोटे - बड़े मानसिक संघर्षों से उपजी घटनाओं पर आधारित यह उपन्यास प्रथम दृष्टि में तो फौजी परिवारों से जुड़ी कहानियां लगती है, लेकिन उसके तल में उतरते ही समाज के सारे ओझल सच सम्मुख आकर खड़े हो जाते हैं। एक सैनिक अपने देश के लिए तमाम संघर्षों से जूझता है, और घर से भी दूर रहता है। इस दौरान उसका परिवार भी आए दिन अनेक युद्ध विभीषिकाओं से गुजरता है, जिनमें न तो जीत-हार का कोई विशेष अर्थ होता है ना ही उसके लिए कोई प्रमाणपत्र या मेडल मिलता है।

जो युद्ध दिखते नहीं, उसके परिणाम से जूझते सवाल हैं 'कितने मोर्चे'!

कुसुम के रूप में सूत्रधार बनी यह किताब बड़े ही मनोवैज्ञानिक तरीके से हमें चौधरी विहार के हर घर से जोड़ देती है। युद्ध प्रभावित इलाकों या बॉर्डर पर होने वाली नियुक्तियों को सैनिक भाषा में फील्ड

पोस्टिंग कहा जाता है। इस फील्ड एरिया में उन्हें परिवार को साथ रखने की इजाजत नहीं होती, जिस कारण उन्हें एस. एफ. अकॉमडेशन यानि सप्रेटेड फॅमिली क्वाटर्स में रहने की सुविधा दी जाती है और इनकी देख रेख का जिम्मा सेना का होता है।

फौजी के फील्ड पोस्टिंग पर जाने पर परिवार को मिले ये मकान पहले जैसे सुविधाजनक नहीं होते इसलिए संघर्षों की शुरुआत का पहला कदम घर की शिफ्टिंग होता है। सप्रेटेड फ्लैट्स वाले चौधरी विहार में संतुलन बनाने की कोशिश में उभरी जीवन की इस उथल पुथल को वन्दना जी ने जिस कौशल से संवेदना, प्रकृति और निर्जीवता से जोड़ा है वह काबिलेतारीफ है। उनकी सूक्ष्म दृष्टि कलम से शायद ही कुछ अछूता रह पाया है। घर के बगीचे - पौधों - पक्षियों को बड़े ही अपनेपन से उभारा गया है। लैंप की कलात्मकता से लेकर पक्षियों के पानी के इंतजाम तक गृहिणी का सिर्फ सुगढ़ संचालन ही नहीं उसके मन की कोमलता का भी परिचय देता है। जितने विस्तार से बंदरों का उत्पात दर्ज है उतनी ही लिफ्ट की भयभीत करने वाली कड़वाहटों को हूबहू उतारा है। सोसायटी मेंटेनेंस पर लगे प्रश्नचिन्ह से लेकर व्यवस्थाओं के खोखले मानक सिविलियन्स और सेना से जुड़े लोगों का फर्क मिटा देते हैं।

किसके मुँह में कितना माल भरा है और किसका थूकन सामर्थ्य कितना है, यहाँ बने भित्तिचित्र इस बात के गवाह थे। पृ - 39

लिफ्ट का बंद हो जाना यहाँ आम बात है मगर आज के हादसे ने सबको स्तब्ध कर दिया। पृ - 267

बंदरों के हौसले बुलंद थे। कपड़े फाड़ना या उन्हें पहन कर परेड करना, मनोरंजन की चीज थी मगर भूख मनोरंजन नहीं होती। मन लगाने के लिए शरारतें करते समय जो कौम सीमाएं लांघ जाती है, पेट भरने के लिए वह खतरनाक भी हो सकती है। पृ - 273

हालाँकि इन घटनाओं को थोड़ा छोटा भी किया जा सकता था क्योंकि कई पक्षों को एक साथ निभाने में कभी - कभी उनका महत्वपूर्ण विस्तार छूट जाता है जिनको पढ़ने की उत्सुकता बनी रहती है। जैसे निजी तौर पर मुझे घर लौटते पिता से बच्चों के संबंध और

कभी न लौटे पिता वाले घरों में बच्चों की मनोदशा पर ज्यादा से ज्यादा जानने की इच्छा बनी रही।

लेकिन फिर भी व्यवस्थाओं से जूझते तमाम छोटे - बड़े युद्ध जो मानसिक, शारीरिक और सामाजिक तीनों स्तर पर लड़ने होते हैं, उन्हें एक किताब के रूप में सहेजना इतना भी आसान नहीं। लिख के शायद फिर भी संभव हो जाए किन्तु जीवन में अधूरे छूट गए भावनात्मक पन्नों का मौन कैसे फूट पायेगा ?

लम्बे - लम्बे अंतराल के बाद मुट्ठी भर दिनों का साथ।
बस इसी उम्मीद पर ज़िन्दगी ज़िंदा है। पृ -305

दिल -दिमाग के सवालोंने बंटे सैनिक, सरहदों की रक्षा करने में जान लुटा देने का गर्व तो जी पाते हैं परन्तु अपने ही परिवार की सुरक्षा के लिए विशेष कुछ नहीं कर पाते। गिनती से पार तारीखों के बाद जब वो घर लौटते हैं तो जाने -अनजाने खुद को एक मेहमान की तरह पाते हैं। एक ऐसा करीबी जो मीलों दूर रहकर फोन, चिट्ठी, सलाह आदि से जुड़ा तो होता है लेकिन नज़दीक होने की भावनाओं से दूरी भी महसूस करता है फिर भी हर छोटे- बड़े पलों को अपने भीतर समेट लेना चाहता है।

दीवारों पर लगा दरवाजे का पहरा, वक्र के दो फाड़ कर देता है। घर के भीतर की दुनिया और दहलीज के बाहर का समाज, एक ही वक्र में अलग - अलग युग जी रहे होते हैं।

बाहर से आने वाला यह मान कर चलता है कि वह एक लम्बी दूरी तय करके आया है, सारी व्यस्तताएं भुगत कर लौटा है। वह चाहता है कि उसके आते ही घर का दरवाजा खुल जाना चाहिए जबकि घर के अंदर भी सब कहाँ फुर्सत में होते हैं ? पृ -128

दो हिस्सों में बंटे घर के बीच संतुलन बनाती स्त्री ही मुख्य भूमिका निभाती है, अक्सर विवशताओं से उपजी परिस्थितियों में बहादुर बनी स्त्रियां वह सब कुछ सीख लेती हैं जिनके लिए उन्हें दूसरों पर निर्भर होना पड़ता था। दूर बैठे प्रिय से वह अपनी पीड़ा कैसे बांट सकती है जबकि उसे पता है माइनस डिग्री की सर्दियों में, युद्ध के मुहाने पर बैठे उसके पति के इर्दगिर्द का भयावह माहौल। हर स्त्री के मन की भीतरी आशंकाओं और बाहरी व्यवस्थाओं के बीच चलने वाली लड़ाइयां जो कहीं दर्ज ही नहीं होतीं, जिनका कोई नियम कानून नहीं होता, जहाँ हारते हुए भी जीतना ही आखिरी विकल्प होता है।

हालाँकि मोटे तौर पर स्त्री विशेष दिखती इस किताब का वास्तविक स्वरूप समाज और मनोविज्ञान से जुड़ा है। जिसे आधी दुनिया के माध्यम से सशक्त तरीके से कहा गया है।

एक स्त्री जो भी आत्मिक भाव से करती है, उसका आधार सिर्फ प्रेम होता है। प्रेम उसके लिए सबसे बड़ी ताकत भी होती है और सबसे बड़ी कमजोरी भी। रज़िया, शीबा का अपने जीवनसाथी से धोखा खाना, मिसेज सांगवान का घरेलू दबाव न सह पाना या श्रीला की बीमारी, मन से हार जाने वाली इन औरतों का दुःख हमें सिहरा देता है वहीं विपरीत हालातों में आयशा का स्वाभिमान से खड़े होना या रीना का बेचारी मां न बनने का हौसला, जीत की नई परिभाषाएं गढ़ते हैं। संजय की दृष्टि की तरह कुसुम पाठकों के मन के भीतर व्यवस्थाओं से लड़ने का एक सकारात्मक नज़रिया दे देती है।

जिस किताब में बहुत सारे पात्र हों वहाँ सभी को उसी रोचकता और सार्थकता से संतुलित रखना आसान नहीं है पर वन्दना जी ने अपने हर पात्र के साथ पूरा न्याय किया है, हर किसी की कहानी अपने आप में पूर्ण उपन्यास है। बड़े पदों से चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी तक कोई भेदभाव नहीं बल्कि पारदर्शिता लिए हुए सच के मंच पर सबको एक साथ उतारा है।

कामवालिओं की दुनिया के प्रपंच भी हैं, अधिकारियों की पत्नियों के दिखावे भी। मध्यम वर्ग तो सदैव समझौतों का माध्यम ही रहा है। यही वजह है कि जहाँ पुराने दौर से चली आ रही प्रेम, घृणा, जातिगत आदि जैसी भावनाएं प्रमुखता से झलकी हैं वहीं शहरीकरण से झांकते स्लीप ओवर के साथ बच्चों का मनोविज्ञान भी खुल कर उभरा है। पिता की अनुपस्थिति और मां का लगभग सिंगल पेरेंट की तरह बच्चों को संभालना विशेषकर किशोर आयु के मन को सहेजने के लिए पर्याप्त नहीं होता। बच्चों के करिअर, आवश्यकताएं, उनके डगमगाते कदम, उनसे जुड़े डर और मानसिक बदलावों से जूझती माएं और दूर बैठे उनके पिता की बेबसी को बहुत ही भावपूर्ण तरीके से लिखा है। एक ओर पारिवारिक संवेदनाओं से जुड़ी घटनाएं जहाँ उद्बलित करती हैं दूसरी ओर शहीद के घर के दृश्य और उनके कभी न भर पाने का मार्मिक अभाव भीतर तक झिंझोड़ देता है।

राष्ट्रीय ध्वज से सजे शरीर को लाख बंदूकों की सलामी और फूलों के हार चढ़ें, मरणोपरांत शौर्यगाथाएं सुनाई जाएं या उसकी शहादत के बाद उसके साथ उसके परिवार को भी भुलाए जाने का आखिर क्या हासिल है ?

हर बार नए कीर्तिमान ... नए चेहरे ... नए शहीद ... नए शहीदों की विधवाएं आने वाले समारोह में पिछले शहीदों का जिक्र नहीं होगा, उन्हें याद नहीं किया जायेगा।

जब शहीदों को ही राष्ट्रीय स्तर पर भुला दिया जाता है तो छब्बीस जनवरी की ठंडी हवाओं में शान से लहराते तिरंगे के नीचे खड़ी उस अकेली औरत का साहस और त्याग किसे याद रहेगा ? (पृष्ठ 353)

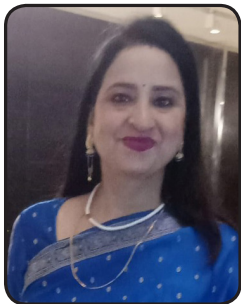
धन्यवाद की पात्र है ऐसी लेखनी, जो सिर्फ पाठकीय मानकों अथवा स्व अनुभवों के लिए नहीं बल्कि समाज के लिए आवश्यक है ताकि खुद से परे खुद के जैसे उस दर्द और त्याग को भी समझा जा सके जो हमारे लिए ही सहा गया है।

जीवन के भावुक अनुभवों से गुजरती इस उपन्यास का न तो कोई सुखद अंत है ना ही दुखद, फिर भी इसे पढ़ने के बाद एक चुभन सी बनी रहती है कि उल्लास और मस्ती से सजी इन मुस्कानों को बनाये रखने में हमारी जिम्मेदारी का योगदान कहाँ और कितना है? क्योंकि शहादत देश के सम्मान का तो विषय हो सकती है पर एक पत्नी और बच्चों के लिए। .. बूढ़े माँ-बाप के लिए कभी उत्सव नहीं बन सकेगी

—साहित्यकार, मुरादाबाद, Email : archana.upadhyay20.01@gmail.com

समीक्षा

कथाकार वन्दना यादव



डॉ. मुक्ति शर्मा

वन्दना यादव जी के व्यक्तित्व की इतनी परतें हैं कि हम सबके लिए यह तय कर पाना आसान नहीं है कि उनकी किस साहित्यिक गतिविधि को सर्वश्रेष्ठ माना जाए। जब हम उपन्यास की, कहानियों की, या बाल साहित्य की बात करते हैं तो लेखिका का अपने साहित्य के प्रति समर्पण अतिविस्मयनीय है।

वन्दना जी की कहानी “कफरू” एक ऐसी कश्मीरी लड़की की कहानी है जो बचपन से बड़े होने तक स्त्री जनित पाबंदियों में ज़िंदगी जी रही है। बेटे और बेटी की परवरिश को फ़र्क को वह हर दिन झेलते हुए बड़ी होती है। शिक्षा प्राप्ति के लिए किसी तरह वह दिल्ली पहुँचती है, यही कदम उसका भविष्य भी तय करता है।

विदेश में रहने वाला अशफ़ाक जब देश लौट आता है, ज़ीनत की शादी उससे करवा दी जाती है। हालात बदलते हैं और यह जोड़ा अपनी छोटी सी बेटी के साथ दिल्ली आ कर रहने, काम करने को मजबूर हो जाता है। परिस्थितियाँ लगातार बदलती हैं। कहानी के अंत में पहुँच कर जब ज़ीनत की अम्मी अपनी बेटी को वापस कश्मीर बुलाती है, उस समय ज़ीनत का कहना, ‘अम्मी अब यही मेरा वतन है। और जिससे तुम डरने की बात कर रही हो उनसे डरने की जरूरत मुझे नहीं है! असल में जब हमें यह खबर मिली है, मैं सुरक्षा

एजेंसियों की नजरों में आ चुकी हूँ। अब यह लोग मेरी हिफाज़त करेंगे।’ कहते हुए वह लौटने से मना कर देती है।

यहां पर ज़ीनत के माध्यम से वन्दना यादव एक ऐसी नारी पात्र को सामने लाई है जो चुनौतियों का डटकर मुकाबला करती है। आतंकवाद का शिकार ज़ीनत ही नहीं बल्कि उसका परिवार भी होता है उनकी मानसिक स्थिति ऐसी हो जाती है, कि ज़ीनत की अम्मी सब कुछ जानते हुए भी चुप्पी नहीं तोड़ती। यह कहानी समाज और परिवार में स्त्री की अलग-अलग भूमिकाओं पर ध्यान केन्द्रित करती है। पारिवारिक भूमिका में, संवेदनशील स्त्री के रूप में, पत्नी, माँ और अंत में आत्मनिर्भर महिला का रूप देखने लायक है।

कहानी “दोपहरी” में नारी मन की स्थिति को उकेरा गया है। आर्थिक तंगी के चलते संघर्ष पूर्ण जीवन व्यतीत करती नारियों की स्थिति को अत्यंत भावनात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है लेखिका ने। सुगनी कहती है कैसे लाऊं लक्ष्मी गणेश? अभी पगार कहाँ मिली है?

हाथ में पेइसा होगा तभी ना खरीदेंगे।’

शगुन के माध्यम से लेखक ने निम्न वर्ग की आर्थिक स्थिति को जागृत किया है।

गरीबी रेखा से नीचे का तबका भूख की इकलौती मार झेलता है, उनको मध्य और उच्च वर्गीय लोगों के समान समाज में अपने मुकाम को लेकर झूठे दिखावे और काम की सच्चाई छुपाने की दोहरी मार नहीं झेलनी पड़ती। इस मामले में यह तबका दिखावटी और झूठी शान दिखाने की मानसिकता पर विजय हासिल कर चुका है।

महामारी के कारण आम आदमी कितना प्रभावित होता है, इसका लेखिका ने वर्णन बहुत सुंदर ढंग से किया है स्कूल बंद होने के कारण वे गरीब परिवार आस लगाए बैठे हैं कि स्कूल खुलेगा तो फिर से काम मिलेगा हमारे दो वक्त की रोटी का जुगाड़ हो जाएगा।

लेखिका की सबसे बड़ी खासियत है कि वे उन लोगों के दर्द को भी महसूस करती हैं जिसको हम नजर अंदाज कर देते हैं, चाहे वह घर के काम करने वाली महिला हो या नौकरी पेशा नारी, बखूबी उनके दर्द को कहानी में इस तरह दिखती है कि पाठक हैरान हो जाता है।

यही कारण है कि उनकी तमाम कहानियां पाठकों के बीच बहुत चर्चित और लोकप्रिय होती हैं।

आज जो समाज के सामने विकराल समस्या मुंह बाए खड़ी है, वह रोजी-रोटी की समस्या है। इसके लिए नारी एवं पुरुष दोनों के संघर्ष को “दोपहरी” कहानी में बताया गया है।

अंत में कहा जा सकता है: कि दोनों कहानियों के माध्यम से पुरुष एवं नारी की मानसिक स्थिति का संवेदनात्मक रूप से चित्रण किया है !

आतंकवाद के कारण अर्थात बेकारी के कारण नारी एवं पुरुष की मजबूरी और लाचारी को चित्रित करने में लेखिका सक्षम रही है।

—साहित्यकार, जम्मू-कश्मीर, Email : vinodmuki@gmail.com

समीक्षा एवं संस्मरण

वन्दना यादव – एक नेक दिल इंसान



डॉ. रमेश यादव

वन्दना जी को जितना मैंने देखा, पढ़ा, सुना उसके अनुसार यही कह सकता हूँ— ‘खुशी के फूल उन्हीं के दिलों में खिलते हैं जो अपनों से अपनों की तरह मिलते हैं।’ वो आकर्षक व्यक्तित्व, पारदर्शी, हँसमुख, मिलनसार, संवेदनशील, मददगार, सरोकारी, सेल्फ रेस्पेक्ट, सकारात्मक सोच एवं सतत सक्रिय रहने वाली कलमकार हैं। उनकी कलम

हमेशा नए कॅनवास के तलाश में सोच-समझकर चिंतन के साथ चलती है। वे जितनी जोवियल, सहज एवं परवाह करने वाली मैत्रेय हैं उतनी ही बोल्ड, कठोर तथा अपने विचारों की पक्की हैं। अन्याय के खिलाफ खड़े होने का माद्दा रखती हैं, इस अभिमान के साथ कि एक कर्तव्यनिष्ठ फौजी की पत्नी जो हूँ। एक जागृत कलमकार को ऐसा ही होना चाहिए।

पत्र-पत्रिकाओं में पढ़कर मैं उनकी लेखनी से बहुत पहले से परिचित था पर रूबरू मुलाकात नहीं थी। एक दिन फिल्म जगत से जुड़े मुंबई के कवि मित्र, अनुज रवि यादव जी से मुलाकात हुई तब वन्दना जी के बारे में कुछ जानकारी तथा संपर्क नंबर मिला। उसी दौरान वन्दना जी का अनूठा एवं धारा से हटकर चर्चित उपन्यास ‘कितने मोर्चे’ (2018) में छपकर आया था और मैंने उसे अमेज़ॉन

से खरीदकर पढ़ा। उसके बाद तो मैं उनकी लेखनी का फॅन बन गया। उपन्यास को लेकर पहली बार फोन पर जब उनसे बात हुई तो लगा जैसे हम दोनों एक दूसरे को बरसों से जानते हों। इसका मुख्य कारण था- मेरी लेखनी से वे परिचित थीं, अपनत्व का भाव, उनकी अंतर-बहिर्मुखता, सहमतता, खुलापन और दोस्ताना अंदाज। इन अनुभवों को मैं आज भी महसूस कर रहा हूँ। वैसे उनसे मेरा पहला रूबरू परिचय 9 जनवरी 2020 को दिल्ली के पुस्तक मेले में पब्लिशर के स्टॉल पर हुआ जहां उनकी मोटिवेशनल पुस्तक ‘अब मंजिल मेरी है’ के लोकार्पण समारोह का आयोजन था। उसमें हिंदी साहित्य जगत के कई मान्यवर लोग उपस्थित थे। इस समारोह से निपटते ही उन्होंने भारतीय ज्ञानपीठ के स्टॉल पर जाने की मंशा मुझसे व्यक्त की यह कहते हुए कि मैं आपकी चर्चित पुस्तक ‘बिम्ब-प्रतिबिम्ब’ देखना चाहती हूँ। साथ में कानपुर से आई छोटी बहन रंजना और उनकी बाल साहित्यकार प्यारी बिटिया सुहानी भी थी। मेरे द्वारा अनूदित और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा 2013 में प्रकाशित इस उपन्यास की चर्चा दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई और हिंदी साहित्य जगत के राष्ट्रीय फलक पर अपनी पहचान बनाती गई। मुझे संदेह था कि स्टॉल पर मुझे जानने वाला कोई होगा भी या नहीं ! स्टॉल पर जाने के बाद पता चला कि उस उपन्यास की तीसरी आवृत्ति वहाँ मौजूद थी। हमारे लिए खुशी का कोई ठिकाना नहीं रहा। इस उत्साहवर्धन के बाद हम लोग प्रभात के स्टॉल पर गए और स्वयं प्रभात जी ने

हमारा स्वागत करते हुए मेरे द्वारा अनूदित उपन्यास 'वैकल्य' की दूसरी आवृत्ति भेंट स्वरूप देते हुए जो सम्मान दिया उसे आज तक हम भूल नहीं पाए। तत्पश्चात् सुरेन्द्र कुमार एंड सन्स के स्टॉल पर गए जिसने मेरी बाल साहित्य (कविता संग्रह) की पुस्तक 'महक फूल-सा मुस्काता चल' की प्रतियां भेंट स्वरूप दी। उसके बाद एनबीटी के स्टॉल पर गए वहाँ वन्दना जी की पुस्तक 'सब्जियों वाले गमले' से मुलाकात हुई। इन बातों का जिक्र यहां सिर्फ लेखक और प्रकाशक के संबंध तथा वन्दना जी द्वारा की गई हौसलाआफजाई के तहत कर रहा हूँ। मेरे लिए ये पहला अवसर था जब मैं उनके व्यक्तित्व से परिचित हो रहा था। एक रचनाकार का दूसरे रचनाकार के प्रति यह सम्मान तथा भाव-भावनाओं का आदान-प्रदान मेरे लिए यादगार बना हुआ है।

उसके बाद फोन पर हम अपने सृजन, एक दूसरे के सुख-दुख और भाव भावनाओं से लगातार रूबरू होते रहे और ये सिलसिला अब भी जारी है। मुझे याद है वो वाक्या जब वो समाज की ओर से आने वाली एक सामाजिक, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक पत्रिका को लेकर पूरे कमिटमेंट के साथ योजना बना रही थी। पत्रिका को लेकर उनका चिंतन, मंथन, होमवर्क आदि मेरे लिए कुतूहल का विषय था। पत्रिका का काम आपके व्यक्तिगत लेखन को प्रभावित करेगा इस हिंट के बावजूद भी वे कमिटमेंट तथा समाज के प्रति सरोकार को लेकर गंभीर थीं। इस पत्रिका के स्वरूप को लेकर हम लगातार बात करते थे। चूंकि लक्ष्य नया था इसलिए संबंधित जानकारीयाँ अन्य मित्रों से भी प्राप्त करना आवश्यक था। उनकी सक्रियता देखकर मुझे पूरा विश्वास था कि वो पत्रिका को सही अंजाम तक ले जाएंगी। मगर वो योजना सफल नहीं हो पाई और कई दिनों तक निराशा से जूझती रहीं। मगर कुछ ही दिनों में पुनः वे अपने साहित्य सृजन में लग गईं और तत्पश्चात् 'ये इश्क है' (काव्य संग्रह), शुद्धि (उपन्यास), सिक्किम जैसे पुस्तकों को अंजाम देते हुए पुरवाई पत्रिका के लिए लगातार मोटिवेशनल साप्ताहिक कॉलम भी लिखने लगीं। मित्र होने के नाते इससे बड़ा आनंद का विषय और क्या हो सकता है!

वन्दना जी ने जीवन में जो देखा, सुना, भुगता, अनुभव किया उन सबको अपने लेखन का अंग बनाया। हिंदी साहित्य जगत में वे एक ऐसी कलमकार हैं जिनके द्वारा सृजित रचनाओं ने सभी वर्ग के पाठकों को आकर्षित किया है और अपना प्रभाव छोड़ा है। बानगी के तौर पर मैं उनके द्वारा सृजित एक बेहतरीन उपन्यास 'कितने मोर्चे' का जिक्र यहाँ करना चाहूँगा।

'कितने मोर्चे' एक अलहदा विषय की अनुगूँज करते हुए किस्सागोई के पूरे कलेवर के साथ उपस्थित होता है, जो अपने अनूठेपन के बल पर न केवल पाठकों को अंत तक बांधे रखता है बल्कि अपने कथ्य, शिल्प और मुहावरों के साथ रोचकता को बरकरार रखता है। एक ओर सरहदों पर देश की रक्षा का मोर्चा संभालने वाले जांबाज फौजियों के प्रति समाज पूरे आदर-सम्मान से पेश आता है, वहीं दूसरे मोर्चे की धुरा इन फौजियों की पत्नियां संभालती हैं जिनकी दास्तानों को यह उपन्यास पूरे शिद्दत से स्वर देता है। इन फौजियों की पत्नियां घर-परिवार, बच्चों की परवरिश, बाजार-हाट, घरों की शिफ्टिंग, स्कूल-कॉलेज और बच्चों के एंट्रेंस एक्जाम, रिश्तेदारी तथा छोटी-मोटी नौकरी के साथ-साथ कई सामाजिक तथा सांस्कृतिक जिम्मेदारियों को अकेले निभाते हुए जिंदगी के आशा-निराशा के समंदर में गोते लगाती हैं। साथ ही अपने पास-पड़ोस के प्रति सरोकार की भावनाओं को निभाते हुए एक दूसरे के सुख-दुख को साझा करती हैं और अपनी एकल जीवन शैली की मजबूरी को जीते हुए एक अहम जिम्मेदारी का वहन करती हैं। दूरियों की मजबूरियां फौजियों के पैरों में बेड़ियाँ डाल रखी होती हैं। ये महिलाएं समाज की अदालत में अपनी दलीलें पेश करती हुई कई अनुत्तरित प्रश्नों के साथ इस उपन्यास में उपस्थित होती हैं और अपने हक की गुहार लगाती हैं जो हम सामान्य जनों को हिलाकर रख देती हैं।

शहीद फौजियों के बलिदान को देश वंदन करता है। मरणोपरांत समारोह में पत्नी की उपस्थिति में गुण-गौरव के साथ उसे शौर्य पदक प्रदान करता है पर उस विधवा पत्नी और उसके बच्चों के बारे में ये समाज कितना सरोकार और कब तक सरोकार रखता है? उनके शहादत के बारे में ये देश-समाज कितना चिंतन-मनन करता है? क्या इस बारे में हम कभी सोचते हैं? इस तरह के प्रश्नों की शृंखलाएं सामान्य नागरिक तथा पाठकों को झकझोरते हैं। असली मोर्चा तो फौजियों की पत्नियां संभालती हैं जो एक साथ कई सामाजिक सांस्कृतिक चुनौतियों पर अकेली लड़ती हैं। सिविलियन पति-पत्नी मिलकर पारिवारिक जिम्मेदारियों को निभाते हैं, जबकि इस फ्रंट पर फौजी की पत्नी अकेली होती है और रोज एक अनजाने सदमे जीती है। फौजियों की इन अकेली पत्नियों को अपने हवस का शिकार बनाने के लिए कई लोग घात लगाए भी बैठे रहते हैं। इससे कई लोगों के तलाक हो जाते हैं और कई लोग बच जाते हैं। इस भयानक परिस्थिति के लिए आखिर जिम्मेदार कौन है?

ऐसे कई ज्वलंत समस्याओं एवं अनुत्तरित प्रश्नों के साथ यह उपन्यास एक ऐसे समाज से रूबरू कराता है जिसकी हम कभी कल्पना भी नहीं कर सकते। देश-दुनिया का एक अहम हिस्सा होने

के बावजूद सिविलियन समाज इनकी दुनिया से काफी हद तक आज भी अनभिज्ञ है। शहादत देश के लिए सम्मान का विषय हो सकता है पर एक विधवा पत्नी और उसके बच्चों के लिए...! बूढ़े माँ-बाप के लिए कभी ये उत्सव का माहौल नहीं हो सकता। जिंदगी भर रोना और संघर्ष के साथ जीना उनकी नियति होती है। दूसरे मोर्चे की सही सलामती, रक्षा-सुरक्षा, सकुशलता का संदेशा ही बीहड़, उबड़-खाबड़ और बर्फीले प्रदेशों में देश की रक्षा का भार संभाल रहे तथा दुश्मनों की गोलियों के निशाने पर खड़े जवानों का सम्बल होता है। फौजियों के रिहायशी इलाके की जीवन पद्धति, प्रशासन-व्यवस्था, संघर्ष, प्रेम, करुणा, माया, ममता, बिखरती जिंदगियाँ, बनते-बिगड़ते सपने जैसे तमाम भाव-भावनाओं को वास्तविकता का स्वर देते हुए यह उपन्यास अपनी अलग छाप छोड़ता है। माना कि कई सुख सुविधाएं व्यवस्था उन्हें उपलब्ध कराती है जो आम नागरिकों के जीवन में सहजता से संभव नहीं होता पर किस कीमत पर? क्या इसके बारे में हमने कभी गौर किया है? फौजियों की पत्नियों के अंतरद्वंद्व की कई छटाओं से परिचय करवाते हुए फौजी व्यवस्था के स्याह एवं श्वेत पक्ष को भी यह उपन्यास उजागर करता है।

उपन्यास के केंद्रबिंदु के रूप में मौजूद तेज तर्रार कुसुम एक फौजी की आदर्श पत्नी, अच्छी माँ, सखी, कुशल गृहिणी, सरोकारी और जागृत महिला के रूप में महिलाओं के लिए रोल मॉडेल के तौर पर उभरकर सामने आती है। कई मोर्चों पर अपने हक और अधिकार के लिए इन महिलाओं को लड़ना सिखाती है, फिर चाहे वह फौजी जिंदगी हो या सिविलियन जिंदगी...। इसी कुसुम नामक किरदार में वन्दना जी का अक्स उभरकर सामने आता है और अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अमिट छाप छोड़ जाता है। इसीलिए ये उपन्यास खास है तथा वन्दना जी की पैनी नजर और सशक्त कलम को पाठक सलाम करता है। साथ ही पीड़ा भी होती है कि इस संवेदनशील उपन्यास को जिस ऊँचाई पर जाना चाहिए था या जिन सम्मानों का ये हकदार था वहाँ तक इसकी आवाज नहीं पहुँच पाई। आधुनिक विचारों की धनी वन्दना जी असफलताओं, निराशाओं को धैर्य के साथ पचाना भी जानती हैं इस सोच के साथ कि कभी अपनी बारी भी आएगी। और फिर हरियाणवी, राजस्थानी मिट्टी को सिद्ध से याद भी करती हैं। ऐसी अनूठी कृति और अनूठे विषय के लिए वन्दना जी को ढेर सारी बधाइयाँ और शुभकामनाएं।

उनके लेखन की और भी कई छटायें हैं। उपन्यास, कहानी, कविता, बाल साहित्य, मोटिवेशनल आदि में समान रूप से दखल रखती हैं। 'ये इश्क है...' पुस्तक के माध्यम से शृंगार रस की कविताओं से पाठकों को वो सराबोर करती हैं। शीर्षक पढ़ते ही

स्वाभाविक रूप से कई तरह की भाव-भावनाएं मन में तरंगित होने लगती हैं, जिसकी कसौटी लौकिक और अलौकिक हो सकती है। जी हाँ, इश्क की इन्हीं लहरों पर सवार होकर संग्रह की 93 कविताएं अपनी रूहानी तान छोड़ती हैं। ये इश्क उस बृहत प्रेम का प्रतीक है जिसे शब्दों और सीमाओं में बांधना कठिन है। ये क्षणिक भाव-भावनाओं और शृंगार से परे वो जड़ें हैं, जो बहुत गहराई तक जाती हैं और इबादत की मंजिल खड़ी करती हैं। कविता आत्मानुभावों की अभिव्यक्ति होती है इसे संग्रह की कविताओं में देखा जा सकता है।

कवयित्री को इश्क है बचपन की गलियारों से, गाँव-घर आँगन चूल्हे, खेत-खलिहानों से, प्रकृति, पहाड़ों-पगडंडियों से, अपने घर-परिवार माता - पिता, बेटियों और पति से, पुरानी चिट्ठियों, मित्रों और सहेलियों के रस रंग से, पठन-पाठन, शब्दों के सृजन से। उन तमाम मीठी यादों और स्मृतियों के इश्क में गिरफ्त कवयित्री इनसे रिहा नहीं होना चाहती। पार कर लेना चाहती है भवसागर इन्हीं यादों के सहारे। इश्क की ये वो शक्तियाँ हैं जो कवयित्री को जीवन में आगे बढ़ने का हौसला देती हैं और दुनिया से बाखबर होते हुए भी बेखबर रहने का हुनर सिखाती हैं। बीते लम्हों की कसक भले साथ हैं पर उन्हें याद करते हुए वह जीने का संबल भी प्राप्त करती हैं। बानगी के तौर पर संग्रह की - यूँ ही सा खयाल, दरवाजा और इन्तिज़ार, पगडंडी, दोपहर बाद की धूप, एक कतरा, हम-तुम, मन मेरा भीगने लगा है, पंखुड़ियाँ, चाय का प्याला, सीढ़ियाँ, लम्हें, वक्रत, बंद दरवाजों वाला घर आदि कविताओं को पढ़ा जा सकता है। शाम होने लगी है - संग्रह की अंतिम और बड़ी कविता है जो भावुक कर देती है।

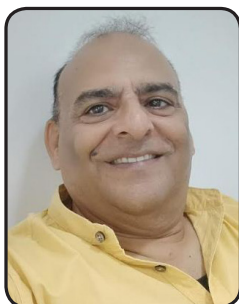
इश्क रूपी कविता को बेहद सरल और सहज शब्दों में भी व्यक्त किया जा सकता है इसे, संग्रह को पढ़ते हुए महसूस किया जा सकता है। ये कविताएं अपने भीतर कई प्रतीकों और भाव सौंदर्यों को समेटे हुए हैं। इन्हें भीतर की आंखों से पढ़ना होगा तथा समझने के लिए गहराई में उतरना होगा, तब किसी को भी इस पुस्तक से इश्क हो जाएगा, इसमें कोई दो राय नहीं है...।

उनका चर्चित बाल संग्रह 'सब्जियों वाले गमले' नॅशनल बुक ट्रस्ट से 2015 में प्रकाशित हुआ है जिसकी आवृत्तियाँ आ चुकी हैं। इसमें भी वो अपने सूझबूझ और बाल मनोविकास का परिचय देते हुए अपनी विशेष छाप छोड़ी है। संक्षेप में कहें तो वन्दना जी एक बेहतरीन इंसान हैं। उन्हें और उनके परिवार को मंगल कामनाएं देते हुए ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि उनकी लेखनी सदा बुलंदियों को छूए और वो ऐसी ही नेक, सहज, सरल बनीं रहे। धन्यवाद।

—वरिष्ठ साहित्यकार, मुंबई

Email : rameshyadav0910@yahoo.com

वन्दना हौसले और विचार का समागम



पंकज चतुर्वेदी

वन्दना यादव न जाने कब मिलीं और फिर एक मित्र बन गईं। दिल्ली आए 30 साल हो गए, आमतौर पर अपने व्यक्तिगत और प्रोफेशनल रिश्ते अलग-अलग ही रखता रहा हूँ। खासकर जब तक नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया के संपादकीय विभाग में रहा, लेखक आदि से महज ऑफिस का ही रिश्ता रहा।

वन्दना जी इसकी अपवाद रहीं। न उन्होंने कभी मुझसे नेशनल बुक ट्रस्ट से कुछ छप जाए, इस पर चर्चा की न ही उनकी रचनाएं लौटने पर शिकवा-नाराजगी।

उनके लिए सम्मान उन दिनों बहुत बढ़ गया जब कर्नल साहब की सिक्किम के दुर्गम स्थान पर पोस्टिंग पर थी और वन्दना जी की सर्जरी होनी थी, कंधे की। साथ की महिलाओं के साथ वह अस्पताल गई, सर्जरी कारवाई और घर आ गई। वन्दना जी ने ही एक उपन्यास में लिखा है – “जब पति-पत्नी साथ होते हैं तब यही मोर्चे आसान बनकर जीवन-शैली में उतर आते हैं, जबकि पति के बिना ये अनुभव किसी मोर्चे से कम नहीं होते। “ घर के मोर्चे, दो बेटियों का साथ और दिल्ली जैसा शहर - वन्दना जी ने इस मोर्चे को सहजता से फतह किया। बाद में पता लगा कि कोविड के भीषण समय में भी वे जरूरतमंदों, बीमारों के साथ चेतावनियों के बावजूद खड़ी रहीं। आपके पास सुंदर शब्द का खजाना होना, उन्हें सलीके से सजाने का हुनर होना एक अलग बात है लेकिन अपने परिवेश के प्रति संवेदनशील होना, दूसरों के दुख को समझना और मदद के लिए तत्पर रहना, एक लेखक के उक्रे उद्गारों को और सहज बना देता है।

“कितने मोर्चे” शायद उनका इस तरह का पहला उपन्यास है जिसमें सुदूर इलाकों में लंबे समय के लिए पोस्टिंग पर गए फौजी अफसरों की पत्नियों की मानसिक और सामाजिक स्थिति पर इतनी गहराई से आंकलन किया गया हो। यह काम अदम्य साहस का है क्योंकि वन्दना जी के पति भी फौज में कर्नल रहे हैं और जब उनका यह उपन्यास आया, तब कर्नल साहब सेवारत थे।

उनकी किताब “शुद्धि” भी बेहद अनछुआ विषय है। उपन्यास की शुरुआत परिवार के मुखिया शेर सिंह की मृत्यु से होती है। पंडित जी के कहे अनुसार मृत व्यक्ति की आत्मा, शुद्धि तक घर में रहने वाली है। बस यहीं से शुरू होता है उपन्यास का ताना-बाना... जहाँ मृतक की पत्नी अपने पति की आत्मा के ज़रिये घर-परिवार के लोगों के बदलते व्यवहार और यहाँ तक कि अपनी औलाद के असली चेहरों को भी देख पाती है।

पहली मौत के कुछ दिनों के भीतर ही बुजुर्ग के भाई की मौत से हालात इस तरह बदलते हैं कि दोनों भाईयों के बेटों और शादीशुदा पोतों के परिवार भी एक छत के नीचे, एकसाथ रहने को मजबूर हो जाते हैं। दोनों बुजुर्ग भाईयों की विवाहित बेटियाँ और नातिन भी दुःख जताने पहुँचती हैं। इसी बीच हालात तब और पेचीदा हो जाते हैं जब घर के सबसे महत्वपूर्ण बेटे की पत्नी और उसकी लिव-इन-पार्टनर भी एकसाथ गाँव में पहुँच जाती हैं। किसी अपने को खोने के दुख के साथ घर के दायरे में बंधी औरतों की बात हो या सियासत या बड़े ओहदों पर काम कर रही महिलायें, सभी किसी न किसी त्रासदी और बैचैनी के साथ जीती हैं। यह उपन्यास ऐसे ही छोटे-बड़े कोलाज का गुलदस्ता है।

इन दो पुस्तकों का उल्लेख करने का मेरा इरादा उनकी पुस्तकों की समीक्षा करना कतई नहीं है। बस बताना चाहता हूँ कि वन्दना लिखने में भी दलित-महिला विमर्श जैसे ढर्रे से अलग हट कर समाज के उन मसलों पर अपनी कलम चलाती हैं, जिन पर बात करना ही लोगों को भयातीत करता है। मेरी मित्र निजी जीवन में और एक लेखक के रूप में भी चुनौती को स्वीकार करना, गहन शोध करना और स्पष्ट धारणा के निर्माण में काबिल हैं। वे समाज के विभिन्न वंचित वर्ग के उन्नयन के लिए मैदान में उतरने से नहीं हिचकती। किसान आंदोलन के समय उन्होंने अपना स्पष्ट और ठोस नज़रिया उजागर किया कि किसानों की मांगें जायज हैं और आंदोलन का तरीका भी लाजिमी हैं।

वैसे वन्दना जी कई शिक्षण संस्थानों में प्रेरित करने वाले भाषणों के लिए बुलाई जाती हैं और वहाँ से उनके विचारों में युवापन

का मुलम्मा चढ़ता रहता है। बस मेरा यही आग्रह है भले ही दो हर्फ कम लिख लेना, लेकिन समाज और अपने आसपास के प्रति संवेदनशील और अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने में कमी मत आने देना।

—पत्रकार, लेखक और प्रकाशक, दिल्ली Email : pc7001010@gmail.com

Reveiw

Vandana Ke-Lekhan par Tippani



Gen. (Retd.) Rameshwar Roy

What can you tell about someone whose name itself signifies, “Vandana” stuti and prayers. Nothing is ever undertaken in our great nation India without Vandana. Born in Bikaner (Rajasthan) of a Rajasthani mother and Haryanvi father and younger of the two sisters: Vandana was bound to be a child with great destiny almost like Ganga-Jamuna tehrjeeb. Naturally then her childhood was spent in twin cultures. She studied in Rajasthan until 9th class before moving to Haryana for the rest of her studies. As it happened, once she got married to an Army officer, the entire India became her home.

Its well-known fact that Army environment and culture encompasses Mini- India. This allowed her to then start looking at life Queen size and with it came a forcing desire to have her own identity and not just remain as a ‘Chocolate’ or a ‘Trophy’ wife of an Army officer to present herself at social gatherings and official functions. So started her search for an Identity of her own and making a name for herself in the world of literature.

One cannot but accept and be an admirer of her motivation, hard work, dedication and great focus through all the odds and multifarious responsibilities as a wife and mother of two lovely daughters. Naturally she made a start with ‘Kitne Morche’ and then her writings flowed like a river with unending streams as if Sarswati resided in her thoughts and imagination. Much more followed with ‘Sabjion wale Gamle’ and ‘Natmastak’ by NBT publishing house. Two Hindi kavya sangrah, ‘Tum Kuchh Kah Do’ and ‘Kuchh Kah Dete’. Translated from Hindi to Urdu work of collection of poems titled, ‘Kaun Ayega’. In fact one of her books, ‘Ab Manji Meri hai’ is so full of real life lessons and guidance for success that this book alone seems like collection of books.

Her life itself is a source of inspiration and celebrations, of her very exclusive achievements that will make any one sit up and not only take note of her but feel very rewarded to have read her writings and known her as a person. In fact one her books, ‘Kitne Morche’ has already been picked up for research work by a student in University of Delhi, others are likely to follow soon.

Her seven books until now are like seven colours of rainbow but together they form white light of life that is full of her experiences and motivates everyone to carve out their own identity.

She stands tall and much elated with innumerable awards and recognition that have come her way for her writings and social services. She is very closely associated with upliftment of Army wives and highlighting the issues concerning Army fraternity. Does one have to say that her persona itself is a huge motivation. She is a motivational speaker too.

—जनरल (सेवानिवृत्त) सेना मामलों के विशेषज्ञ, दिल्ली, Email : bunbun.roy@gmail.com



पुस्तक मेले में बाल कहानी संग्रह का लोकार्पण



पुस्तक मेले में 'अब मंजिल मेरी है' मोटीवेशनल पुस्तक का लोकार्पण



साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित साहित्यायन में वन्दना यादव के कविता संग्रह और बाल कविता संग्रह का लोकार्पण।



'कितने मोर्चे' उपन्यास का लोकार्पण

स्वामी, प्रकाशक एवं मुद्रक देवेन्द्र कुमार बहल द्वारा डेकोरपैक इंडिया प्रा. लि., 291डी, सेक्टर 6, आई.एम.टी., मानेसर, गुड़गाँव (हरियाणा) से मुद्रित, बी-3/3223, वसंतकुंज, नई दिल्ली 110070 से प्रकाशित किया। -संपादक : देवेन्द्र कुमार बहल

वन्दना का साहित्यिक-संसार

